

॥श्रीहरिः॥

नम्र निवेदन

निम्नलिखित पाठ में जो कुछ भी श्रेयस्कर है वह मूल ग्रंथ से लिया गया है। कोई भी गलती या कमी पूरी तरह से अनुवादक की है, और पाठकों से इसके लिए क्षमा प्रार्थना की जाती है।

– अनुवादक

॥श्रीहरिः॥

बारहवां अध्याय

भक्ति योग

अब हम भक्ति-योग नामक इस छोटे से अध्याय में प्रवेश करते हैं जिसमें ध्यान योग्य कई गूढ़ रहस्य हैं। आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्ति हेतु—भक्ति, ज्ञान, तथा वैराग्य, ये तीन अनिवार्य योग्यताएं हैं। वास्तव में इन गुणों का पूर्ण रूप से प्रस्फुटित होना, यह आध्यात्मिक पूर्णता अथवा भगवद्साक्षात्कार का स्पष्ट संकेत है। अपने उच्चतम अर्थ में, भक्ति शुद्ध प्रेम की अभिव्यक्ति है। यदि ज्ञान ज्योति है, तो भक्ति उसकी चमक है, और दीपक को वातरहित सुरक्षित स्थान पर रखना ही वैराग्य है।

जब मुमुक्षु में ज्ञान का उदय होता है, तो वह अपने गहनतम केंद्र—आत्मा को ईश्वर के रूप में पहचान लेता है। इस प्रत्यभिज्ञा के पश्चात् उस केंद्र से अनंत की गूँज सुनाई देती है और आनंद की अखंड धारा बहती है। यह आनंद ही भक्ति की उच्चतम अभिव्यक्ति है। इसे कहते हैं पराभक्ति। योग के रूप में, तथा साधना के रूप में, भक्ति सार्वभौम स्वीकृत है। इसे मनभावन, तथा सुलभतम मार्ग माना गया है। भक्ति के बिना कोई साधना-अभ्यास सफल या आनंदमय नहीं हो सकता।

भक्ति को त्याग और साक्षात्कार की माता कहते हैं। दिव्य तत्व का अस्पष्ट अपितु मधुर स्वाद आध्यात्मिक जागृति का प्रथम अंकुर होता है। 'स्रोत' में विलीन हो जाने की एक दिव्य उत्कण्ठा, तथा अज्ञेय की अज्ञात प्रकृति का अनुभव करने की लालसा, इसी का नाम भक्ति है। यह गूढ़ अनुभव साधक को आध्यात्मिक साधना के पथ पर, परम-प्रकाश की ओर आगे ले जाता है। यह उन सभी संतों का अनुभव है जिन्हें ईश्वर-साक्षात्कार हुआ है।

नारदीय भक्ति

भक्ति को परिभाषित करना इसे अपवित्र करने के समान है। बहुप्रशंसित भक्ति ग्रंथ, नारद-भक्ति-सूत्र में नारद मुनि कहते हैं कि भक्ति *अनिर्वचनीय*, अर्थात् अवर्णनीय है। तथापि, प्रसिद्ध लेखकों ने, महान संतों में देखे जाने वाले भक्ति के विभिन्न भावों का और उनके गुणों का वर्णन करने का प्रयास किया है। संतों के विषय में भी, भक्ति की गहराई और प्रकृति, व्यक्तित्व के अनुसार विभिन्न रूपों में देखी जाती है। वास्तव में, एक ही साधक के लिए भी, समय-समय पर और साधना के अलग-अलग चरणों में, भक्ति के भाव भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। हम केवल इतना कह सकते हैं कि यह एक दिव्य प्रेम है, एक दिव्य अनुभव है। साधक में यह *भगवान के प्रति प्रेम* की अभिव्यक्ति है, तथा संतों में *भगवान के प्रेम* की अभिव्यक्ति। भक्ति-सूत्रों में नारद मुनि भक्ति के विभिन्न पहलुओं का अन्वेषण करते हैं।

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ॥ ना. भ. सू. २

यह सूत्र भक्ति को एक पारलौकिक प्रेम के रूप में बताता है। इसका दिव्य अनुभव प्रबुद्ध अवस्था में होता है; इसका नाम *पराभक्ति* है।

अमृतस्वरूपा च । ना. भ. सू. ३

भक्ति अमृत स्वरूपी है।

भगवान नारद ने *अमृत* शब्द यहाँ दोहरे अर्थ के साथ प्रयोग किया है—*अमर*, तथा *अमरत्व प्रदान करने वाला मधुर पदार्थ*। आत्मा—ईश्वर का स्वरूप अमृत की भांति मधुर है। आत्मसाक्षात्कार होने पर आत्मा का स्वरूप प्रकाशित होता है—जो उत्तम आनंद है, जो मधुर है, स्वयं शीतल है एवं बुद्धि, मन, और शरीर को शीतल करता है। इसके अतिरिक्त, संत को यह ज्ञान होता है कि वह अमृतस्वरूपी है। यह ज्ञान शारीरिक कारावास के कारण होने वाली घुटन से भक्त को पूर्ण मुक्ति दिलाता है। भक्त द्रवीभूत होकर उस पूर्ण निर्भयता, स्वतंत्रता और प्रेम की मूर्ति के साथ एक हो जाता है, जिसे ईश्वर कहते हैं।

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति। ना. भ. सू. ४

जिसे पाकर व्यक्ति आत्मा में पूर्णतः स्थापित हो जाता है; अमर तथा तृप्त हो जाता है।

यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न स्मते नोत्साही भवति। ना. भ. सू. ५

जिसे पाकर सब कामनाएँ मिट जाती हैं, शोक समाप्त हो जाता है, द्वेष कभी उत्पन्न नहीं होता; वह किसी और वस्तु में आनंद या उत्साह नहीं रखता; वह केवल आत्मा में आनंद लेता है।

यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति। ना. भ. सू. ६

जिसे जानकर व्यक्ति मदमस्त, निस्तब्ध और प्रेम में लीन हो जाता है, आत्मा में आनंद लेता है।

इस अनुभव का वर्णन करने के लिए भगवान नारद जान-बूझकर *यज्ज्ञात्वा* शब्द का प्रयोग करते हैं – अर्थात् *जिसे जानकर, न कि प्राप्त कर*, क्योंकि प्राप्त करने के लिए कुछ नहीं है। केवल *अनावरण* की आवश्यकता है—अर्थात् अंतर्ज्योति को ढकने वाले पर्दे को हटाना। ईश्वर सदा ही आत्मा के रूप में उपलब्ध हैं।

जब यह सदैव उपलब्ध सम्पत्ति पहचान में आ जाती है, तब जिस पर अपना शाश्वत अधिकार था उस पर पुनः अधिपत्य प्राप्त हो जाता है। स्पष्ट होता है कि ज्ञान और भक्ति केवल कहने के लिए अलग हैं। सच्चे भक्त तथा सच्चे ज्ञानी का अनुभव समान ही है।

भक्ति – दिव्य प्रेम की आकर्षण शक्ति

आत्मा का स्वरूप ही प्रेम है। अतः बृहदारण्यक उपनिषद् में कहते हैं¹, "यह आत्मा अपने पुत्र से अधिक प्रिय है, धन से अधिक प्रिय है, सबसे अधिक प्रिय है। यह वास्तव में अंतरतम गहराई है।"

जब मनुष्य भक्ति में प्रवृत्त होता है, तो मानो वह लोहे की सूई है, जिसको एक चुम्बक प्रबलता से खींच रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि चुम्बक स्थिर है, और सूई उसकी ओर दौड़ा जा रहा है। सूई द्वारा प्रदर्शित यह ऊर्जा उसकी अपनी नहीं, अपितु चुम्बक की है। चुम्बक की आकर्षण शक्ति सूई को अपनी ओर खींचती है। ऐसा ही है वो भक्त जो भगवद्साक्षात्कार हेतु साधना प्रारंभ करता है। स्वयं ईश्वर की कृपा शक्ति ही भक्त के मन में संचालित होकर उससे ईश्वर की आराधना, जप, ध्यान आदि कराती है। यद्यपि दर्शक को भक्ति-साधक विलक्षण प्रयास करता हुआ दिखाई देता है, वास्तव में वह ईश्वर की कृपा गंगा में बहता हुआ तिनका मात्र है।

साधक के आत्मसाक्षात्कार के लिए पर्याप्त परिपक्व हो जाने पर, आत्मा, जो हृदय में छिपी हुई, मन और प्राण से आच्छादित है, अपनी ऊर्जा द्वारा मन को उसके स्रोत की ओर आकर्षित करती है। जब अंतर्मुखी मन स्रोत में विलीन हो जाता है, तब आत्मा अथवा ईश्वर अपनी प्रभा मन में प्रकट करके, मन को अंततः अपने में समाहित कर लेती है। यही ईश्वरीय प्रेम की प्रक्रिया है। जब आत्मा अपने स्वभाव को भक्त के व्यक्तित्व में प्रकट करती है, तब भक्त में यह भगवद्प्रेम के रूप में अभिव्यक्त होता है। जब तक साधक में पूर्ण रूप से ज्ञान प्रकाशित नहीं होता तब तक वह अनजाने में ही चलता है—ईश्वर अनुग्रह की शक्ति से प्रेरित—उफान पर नदी में घास के एक तिनके की तरह। जिस क्षण वह इस अनुग्रह शक्ति को पहचान लेता है—*कृपा साक्षात्कार*—उसी क्षण उसमें आनंद का उदय होता है। यह धन्य क्षण मानव मन और दिव्य प्रकाश का मिलन बिंदु है। इस क्षण साधक का मन भगवान के तेज में मिल जाता है, तथा उसका कल्पित व्यक्तित्व भगवान के दिव्य व्यक्तित्व में समाहित हो जाता है। अब के बाद क्षीण मन नहीं रहता। ईश्वर की प्रामाणिक ज्योति साधक के हृदय में प्रकाशित होती है।

भाव भक्ति—विरह व्यथा

भक्ति ही ध्यान का उच्चतम रूप है—जब ध्यान समाधि में परिणत होता है, तो इसे ही भक्ति कहते हैं। भाव-समाधि परम आनंद युक्त भक्ति है। महात्माओं में, ज्ञान के अधिष्ठान से भाव उत्पन्न होता है। यदि साधक को इस भाव का अनुभव हो और तत्पश्चात् वह भाव विलुप्त हो जाए, तो साधक विरह की तीव्र व्यथा में डूब जाता है। जब वह ईश्वर के साथ अपनी आंतरिक कड़ी खो देता है, तब वह गहन वेदना के साथ जूझता है। संपूर्ण भक्ति रहस्यवाद इसी व्यथा-अनुभव से उत्पन्न हुआ है।

इस विरह की अवस्था में साधक भगवद्चरणों पर अपनी पकड़ खो बैठता है और अपनी सूक्ष्म दिव्य मनोदशा बनाए रखने में विफल रहता है। इस अवस्था से परे उड़ने के लिए 'एस्केप वेलोसिटी' उत्पन्न करने का यह संघर्ष—निचले स्तर के खिंचाव से दूर जाने, और मन के गुरुत्वाकर्षण खिंचाव से परे, अंतरिक्ष में स्थापित होने की यह कहानी सभी साधू संतों की जीवनी में बार-बार दोहराई जाती है। मीरबाई के भजन, श्रीमद्भागवद् में गोपिका-गीतं, मराठा सन्तों के अभंग, तमिल सन्तों के शिवभक्ति गीत—ये सभी, साधकों के भावों के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। परिपक्व साधकों में इस विरह व्यथा से ध्यान की एक चिंतनशील धारा उत्पन्न होती है जो दिव्य तत्व को कभी स्पर्श करती है, कभी उसमें विलीन हो जाती है; फिर एक झरने की भांति स्रोत से निकलती है और उस से फिर अलग हो जाती है—केवल विरह और मिलन के आनंद का आस्वादन करने के लिये। इस दिव्य क्रीड़ा की प्रकृति ही ऐसी है। भक्त की विरह वेदना दिव्य कहलाई जाती है, क्योंकि वह आत्मानुभव के नींव पर आधारित है।

भक्ति के केवल प्रारंभिक स्तर पर पृथकता का अनुभव होता है। परमात्म-तत्त्व की प्रारंभिक झलक के पश्चात्, भक्ति की मनोदशा आत्मबोध से संतुष्ट हो जाती है। भक्त को ज्ञात है कि उसे अपने प्रियतम से कोई अलग नहीं कर सकता। अतः भक्त को इस काल्पनिक पृथकता से विषाद नहीं होता, जैसे संसारी मनुष्य को सांसारिक पृथकता से होता है।

ज्ञान मार्ग पर भी साधक आत्म तत्त्व की प्रारंभिक झांकी के पश्चात् इस व्यथा का अनुभव करता है। जब आत्मबोध की झलक धुँधली पड़ जाती है, तब साधक मनन तथा निदिध्यासन द्वारा पुनः उस अनुभव को प्राप्त करके उसमें स्थापित होने के लिए संघर्ष करता है। ये सारे भाव आत्मा से ही उत्पन्न होते हैं।

ऐसा पारलौकिक प्रेम देवप्रयाग में गंगाजी की प्रचंड धारा के समान है—पृथ्वी से अछूते पवित्र जल का गर्जन, प्रचंड कोलाहल—अपने दिव्य सौंदर्य में, अपने भगवान हिमालय का आलिंगन करते हुए, कल-कल ध्वनि समेत अपने जल-शरीर से उन्हें लपेटते हुए! महात्माओं में दिव्य प्रेमानंद की प्रकृति ऐसी ही होती है। यह पूर्णतया अलौकिक, पारलौकिक है; यह मूसलाधार प्रेम-धारा है। संसार भूला जाता है—स्वप्न के जितना भी प्रतीत नहीं होता। केवल दिव्य प्रेम का नित्योत्सव ही शेष रहता है। इसका चित्रण हमें निम्नलिखित सुप्रसिद्ध श्लोक में मिलता है।

नित्योत्सवो भवेत्तेषां नित्यश्रीर्नित्यमङ्गलम् ।
येषां हृदिस्थो भगवान् मङ्गलायतनं हरिः ॥

नित्य है उनका उत्सव, नित्य है उनका ऐश्वर्य, नित्य उनका मंगल जिनके हृदय में समस्त मंगल के स्रोत हरि उज्ज्वलित हैं।

*

यह अध्याय अर्जुन के एक प्रश्न से आरंभ होता है।

१२.१

अर्जुन उवाच।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।

ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥

अर्जुन ने पूछा: इनमें से कौन योग में अधिक श्रेष्ठ है—वो जो दृढ़तापूर्वक आपकी आराधना करते हैं, अथवा वो जो उस सनातन अव्यक्त तत्त्व की आराधना करते हैं?

पिछले अध्याय में वर्णन किया गया था कि कैसे अर्जुन ने श्रीकृष्ण द्वारा प्रदान किये गए दिव्य दृष्टि के माध्यम से संपूर्ण ब्रह्मांड को दिव्य रूप में देखा। यह वास्तव में 'अनंत का भव्य अनावरण' था। अर्जुन के भीतर शक्ति की प्रचंड धाराएँ बहने लगीं। अर्जुन ने, श्रीकृष्ण के नीलमेघ-श्यामल शरीर में शांति, आनंद, भय, काम, उद्वेग, मृत्यु, जीवन, मित्र, शत्रु, देव, दानव, ये सब देखा। उन्हें वैयक्तिक एवं निर्वैयक्तिक, दोनों दिव्य तत्वों का दर्शन हुआ। अर्जुन ने प्रभु की असीम आनंदपूर्ण आत्मीयता का अनुभव किया, और साथ ही, उनके मन में निर्वैयक्तिक तत्व की सर्वव्यापी शांति भी प्रकट हुई। अब उनके मन में उस प्रेमानंद रूपी सागर में समा जाने की उत्कण्ठा जागृत हुई।

भगवद्गतत्व के लिए व्याकुलता होना, यह दिव्य अनुभव का निश्चित संकेत है। यह व्याकुलता ही इस अध्याय का बीज भी है। अर्जुन की चिंता यह है कि भगवान को कैसे प्राप्त किया जाए—वैयक्तिक तत्व के प्रति प्रेम से, अथवा अदृश्य अनंत निर्वैयक्तिक तत्व के ध्यान से? यहां अर्जुन एक मामूली साधक की चिंता को व्यक्त करते हैं। भोलेपन में कोई पूछता है कि “मैं भगवान से प्रेम करना चाहता हूँ, परंतु, कौन से देव, कौन सा रूप, कौन से नाम की उपासना करूँ?” साधक को आध्यात्मिक जीवन की दीक्षा देना एक गहन विज्ञान है। गुरु का उपासना सिद्ध होना आवश्यक है, जो साधक के मन की गहराइयों में उतर कर साधक की पूर्व साधनाओं के बीज देख सके। पूर्व जन्म की साधना वासना के बिना कोई साधक ‘आध्यात्मिक पथ’ पर पैर नहीं रखता। यह एक अकाट्य नियम है। अतः गुरु साधक की वासनाओं के अनुसार साधना निर्धारित करते हैं।

ग्यारहवें अध्याय के आखिरी श्लोक में भगवान कहते हैं, “जो व्यक्ति अपने सारे कर्म मुझे अर्पण करता है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, जो सांसारिक आसक्ति-रहित है, किसी प्राणी के साथ बैर नहीं रखता है—वह मुझ को ही प्राप्त होता है।” उस श्लोक की ओर संकेत करते हुए अर्जुन ‘एवं’ शब्द का प्रयोग करते हैं। ऐसा भी कहा जा सकता है कि इस शब्द का असली अर्थ समझने के लिए हमें पहले के सारे अध्यायों का मनन करना आवश्यक है। **साधक के लिए संपूर्ण भगवद्गीता एक शास्त्र है—वह योगशास्त्र जो सिखाता है कि भक्ति कैसे विकसित की जाए—भगवान के प्रति अनन्य भक्ति।**

भक्ति-मार्ग में, इंद्रियां, मन और शरीर, ईश्वर को अर्पण कर दिए जाते हैं। भक्त का सारा जीवन भगवद्भक्ति से भर जाता है। अतः अर्जुन यहाँ इसे **सतत योग**—निरंतर योग, कहते हैं। जो व्यक्ति प्रातः संध्या से सायं संध्या तक भगवान की पूजा करता है, उसे आसानी से सच्चे भक्त के रूप में पहचाना जा सकता है। उसका सारा समय किसी उपासना रूपी प्रेम से भरा होता है। अर्जुन के प्रश्न में जो दो प्रकार के भक्त हैं, उसमें से यह पहला प्रकार है।

सततयुक्ता ये भक्तास्त्वाम् पर्युपासते—वे भगवान के निरंतर स्मरण के रूप में उनकी पूजा करते हैं। उनका मन सदैव भगवान से जुड़ा होता है। भगवान ने उनके बारे में पिछले श्लोक में कहा—**मत्कर्मकृत मत्परमः**—उनके कर्म, लक्ष्य, मन, इंद्रियां—सब भगवान को अर्पण हो जाता है। इस अवस्था को **सतत-योग** कहते हैं। वे अपना **स्वधर्म** भी भगवान की उपासना के रूप में करते हैं। अपने काम में पूर्ण तल्लीनता के समेत गहन उपासना—**पर्युपासना**। यह सुलभ भक्ति है, जिसमें निरंतर स्मरण के रूप में भगवान को हृदय में धारण किया जाता है। इस प्रकार के भक्त **कर्मयोगी** कहलाते हैं, जिनका उल्लेख पिछले अध्यायों में किया गया है। भगवान रमण महर्षि कहते हैं² – “जगत को ईश्वर समझ कर उसकी सेवा करना ही ईश्वर की सेवा करना है”। ऐसे भक्त के लिए अलग ध्यान में बैठने की आवश्यकता नहीं है; वह सर्वत्र, सर्वदा ध्यानमग्न ही है। उसका अपना हृदय ही ध्यान करने का आसन है, जहां वह ईश्वर के साथ एक है। इसे कहते हैं **सतत-योग**।

प्रायः देखने में आता है कि गीता-माता स्वयं ही एक श्लोक का अर्थ किसी दूसरे श्लोक में देती हैं। भगवान ने स्पष्ट रूप से **सतत-योग** का अर्थ नौवें अध्याय में, तथा इस अध्याय के अगले श्लोक में दिया है।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।

नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ गीता ९.१४

दृढ निश्चय वाले वे भक्तजन निरंतर मेरे नाम और गुणों का कीर्तन करते हुए, निरंतर मेरे स्मरण में स्थित होने का यत्न करते हुए, मुझे सर्वदा प्रणाम करते हुए—ऐसे अविभाज्य भक्तियोग में मेरी उपासना करते हैं।

ऐसे भक्त निरंतर भगवद्स्मरण में मग्न रहते हैं।

सच कहें तो भक्ति बड़ा सरल मार्ग है, क्योंकि यह हमारे संकल्प अथवा शक्ति पर निर्भर नहीं होता। यह केवल ईश्वर के अनुग्रह पर ही निर्भर है। दूसरा तथ्य यह है कि यह सर्वोच्च सत्य पर निर्भर करता है कि केवल ईश्वर का ही अस्तित्व है। इन दोनों तथ्यों को स्वीकार करने से जीवन पूर्ण हो जाता है। जिस क्षण साधक ईश्वर की अनुग्रह शक्ति को पहचान लेता है, उसी क्षण शरीर पर से अहंकार की पकड़ छूट जाती है। साथ ही, जब यह बात समझ में आ जाती है कि केवल ईश्वर का ही अस्तित्व है, उसी क्षण ‘मैं’-भावना काम करना बंद कर देती है, और भक्त वापस अपने वास्तविक स्वरूप में आ जाता है। ये है **सतत-योग**।

अर्जुन के प्रश्न में जो दूसरे प्रकार के भक्त हैं, वे मन को संसार से उपरत करके, इंद्रियों के परे होने वाले अक्षर अव्यक्त आत्मा का ध्यान करते हैं—**अक्षरम्-अव्यक्तम् पर्युपासते**। ज्ञानी उसे कहते हैं जो सदैव अंतर्मुख होकर, अक्षर आत्मा में स्थित है। यह प्रक्रिया देखने वालों को प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः दर्शक के लिए ज्ञानी का आध्यात्मिक अनुभव अगोचर है—**अव्यक्तम्**।

इस प्रकार के योगी की चर्चा छठे अध्याय में की गई थी। वहाँ भगवान ने मन को अंतरमुख करके उसे आत्मा में स्थिर रखने के बारे में विस्तार से बताया—आत्मा, जो **अक्षर** अर्थात् अविनाशी है, और **अव्यक्त** है, अर्थात् इंद्रियों द्वारा बोधगम्य नहीं है। उपनिषद् कहते हैं,

यच्चक्षुषा न पश्यन्ति येन चक्षूषि पश्यति।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ के. उप. १.७

वह जो आँखों से नहीं देखा जा सकता, परन्तु जिसके होने से आँखें देख पाती हैं, जान लो कि वही ब्रह्म है, न कि वो, जिसकी उपासना तुम कर रहे हो।

योगी अपनी दृष्टि अंतरमुख करके “नेत्रों के नेत्र” के रूप में स्थापित हो जाता है, वास्तविक “मैं” के रूप में, “मैं हूँ” के रूप में। वहाँ यत्नपूर्वक स्थित होना **अक्षर-उपासना** कहलाता है, जबकि यदि यह स्थिति सहज हो जाए, तो इसे साक्षात्कार कहते हैं।

भगवान ने इन दोनों प्रकार के योगियों का उल्लेख किया है। अब अर्जुन का प्रश्न है, **तेषां के योगवित्तमाः** – इनमें से कौन उच्चतम श्रेणी का योगी है? वह व्यक्ति, जो पूर्ण परित्याग में अपने प्रारब्ध के अनुसार जीवन व्यतीत करता हुआ भी भक्ति-रस के परमानंद में रहता है? अथवा दूसरा, जिसकी बाहरी गतिविधियों में कोई रुचि नहीं है, जो मन तथा इंद्रियों को भीतर की ओर खींच कर समाधि में सर्वदा स्थित रहता है? इन दोनों में कौन सबसे बड़ा योगी है?

प्रायः लोग एक को दूसरे से तुलना करते हुए प्रश्न पूछते हैं। परन्तु जो वास्तविक गुरु होते हैं, वे एक मार्ग को दूसरे मार्ग से श्रेष्ठ घोषित नहीं करते। साधकों को उनके पिछले संस्कारों के अनुसार, आध्यात्मिक अनुभव अलग-अलग रूप से प्रकट होते हैं, परन्तु वास्तव में, अंततः वह एक ही है। कोई भी वस्तु, और हर वस्तु, हमें अनंत तक ले जाने में सक्षम है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना मार्ग उसकी नियति द्वारा निर्धारित होता है। निम्नलिखित श्लोक से, भगवान अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देना प्रारंभ करते हैं।

१२.२

श्रीभगवानुवाच।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।

श्रद्धया परयोपेताः ते मे युक्ततमा मताः॥

श्री भगवान ने कहा: जो परम श्रद्धा से परिपूर्ण हैं, जिनका मन मेरे भजन-ध्यान में सर्वदा मेरे साथ एकजुट है, जो मुझमें समाहित हैं, मैं उन्हें योगियों में अति उत्तम योगी मानता हूँ।

अर्जुन के सीधे प्रश्न का उत्तर नहीं देते हुए, भगवान इस श्लोक में आध्यात्मिक साधना का सार प्रकट करते हैं। चाहे साधक श्रीकृष्ण के रमणीय रूप का ध्यान करे, अथवा भगवान के बताए गए आत्म-ध्यान का अनुसरण करे, वह समान रूप से आध्यात्मिक संतुष्टि पा सकता है। आध्यात्मिक पूर्णता का रहस्य है साधना में पूर्ण श्रद्धा लगाना। किसी भी आध्यात्मिक साधना को पूर्ण निष्ठा के साथ निरंतर करने से फल अवश्य मिलता है—यह निश्चित है। ऐसे कई भक्त हैं जिन्होंने केवल भगवन्नाम जप तथा साधु सेवा के माध्यम से आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त की है। सरल भक्ति साधना उच्चतम अनुभूति प्रदान करने में सक्षम है।

हृदा मनीषा मनसाभिकृषो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति। क.उप. २.३.९

जब मन हृदय में प्रवेश करता है, तब तत्त्व अनुभूति होती है। धन्य है वो, जो इस प्रकार हृदय-तीर्थ में डुबकी लगाकर, अमृतत्व प्राप्त करता है।

उपर्युक्त वेदमंत्र इस श्लोक का श्रुति-प्रमाण है। केवल वो ही ज्ञानी है जो आत्मा को जानता है, क्योंकि उसके मन ने हृदय में प्रवेश कर लिया है। यहां हृदय का तात्पर्य शारीरिक हृदय से नहीं है; अपितु यह उस स्थान को दर्शाता है जहां अपने भीतर ईश्वर का अनुभव होता है। जब मन इस स्थान में प्रवेश करता है, तब व्यक्ति एक विशेष प्रकार के दिव्य आनंद का अनुभव करता है—एक ध्यानमग्नता, जिसे **आवेश** कहा जाता है। जब ऐसा होता है, तब व्यक्ति को समझ आता है कि उसने किसी पवित्र दिव्य तत्व को स्पर्श किया है, जो कि शरीर, मन अथवा इंद्रियों से संबंधित नहीं है—जो सनातन है, जो मन, काल देश आदि से मुक्त है। यह निस्संदेह आध्यात्मिक द्वार के खुलने का संकेत है। चाहे मार्ग कोई भी हो, मन को संसार से उपरत करके, उसे प्रेम, जागरूकता तथा दृढ़ता पूर्वक आत्मा में स्थापित करना ही उपासना है—यही ध्यान है। इसके लिए अपार श्रद्धा की आवश्यकता है। यहां श्रद्धा का तात्पर्य आध्यात्मिक उत्कण्ठा से है। इस उत्कण्ठा के बिना हृदिस्थ होना—अर्थात् निरंतर ध्यान में रहना संभव नहीं है। अतः भगवान कहते हैं, **श्रद्धया परया उपेतः**। ऐसी तीव्र लालसा से युक्त, वह योगी ध्यान करता है—**उपासते**³।

भक्ति प्रेम का मार्ग है। अथवा कहा जा सकता है कि भक्ति प्रेम का शुद्धतम रूप है। सांसारिक प्रेम अपने उच्चतम रूप में आवेग बन जाता है। इसी तरह, दिव्य प्रेम अत्यधिक भावुक और आनंदमय हो जाता है। यह व्यक्त करने के लिए भगवान **आवेश** पद का प्रयोग करते हैं—जिसका अर्थ है अत्यंत आनंदपूर्वक प्रवेश करना। पिछले अध्याय में हमने यह वाक्यांश देखा—**तत्त्वेन प्रवेष्टुं**—ज्ञान के द्वारा वह प्रवेश करता है—हृदय में—सत्य में, अर्थात् उसका व्यक्तिगत-बोध समाप्त हो जाता है। वहां प्रवेश का तात्पर्य केवल अंदर घुसने से है; परन्तु यहां **आवेश** का अर्थ है अत्यधिक अनुराग के साथ प्रवेश करना। तमिल भाषा में आवेश शब्द का प्रयोग तब करते हैं जब कोई प्रत्यक्ष रूप से उन्मत्त हो जाता है; तब कहते हैं कि 'आवेश हो गया'। जब भक्त भगवन्नाम का स्मरण करता है, उसका सारा शरीर कांप उठता है; शरीर की प्रत्येक कोशिका परमानंद से स्पंदित होती है। ऐसा दिव्य भाव, भक्ति-साधना के चरम पर प्रकट होता है।

यहां भगवान कहते हैं **मय्यावेश्य मनो ये मां**—मन को मुझ परमेश्वर में केन्द्रित करके। परिपक्व साधक बिना किसी पूर्व धारणा के, सिद्ध महात्मा की सन्निधि में प्रवेश करता है और वेदांत-वाक्य का श्रवण करता है। उसे सुनने में आता है – **“तुम ब्रह्म हो। तुम्हारे हृदय में जो ‘मैं-मैं’ का अनुभव होता है, वह शरीर मन या अहंकार नहीं है; वही अनंत है।”** जब परिपक्व साधक परम श्रद्धा युक्त यह सुनता है, उसके भीतर मानो पुष्प-सा कुछ खिल उठता है। उसका मन पतंगे की भांति सत्य की अग्नि की ओर आकर्षित होता है। तत्काल, उसके मन में, समाधि-अनुभव के साथ एक हो जाने की असीम तृष्णा प्रकट होती है, और वह उस स्थिति में प्रवेश कर जाता है। एक ही क्षण में, सब कुछ समाप्त हो जाता है। मन एक दीपक की तरह बुझ जाता है, व्यक्तिगत-बोध मिट जाता है, और साधक को आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है। यह इतना सरल और सीधा है!

ऐसे अनुभव को **आवेश** कहते हैं। भगवद्गीता भाष्य (१३.१८) में भगवान-शंकराचार्य इस पद की सुन्दर परिभाषा देते हैं। वे निम्नलिखित वाक्यांश का उपयोग करते हैं “—‘मानो किसी अलौकिक शक्ति के वश में हो’। श्रीमद्भागवद् में प्रह्लाद के विषय में कुछ ऐसा ही कहते हैं⁵ – “दिव्य कृष्णानुभव के आवेश में आकर वह इस संसार को संसार के रूप में पहचानता नहीं था”। उसके लिये केवल ईश्वर का ही अस्तित्व था।

कठोपनिषद् में भी पाते हैं, अपने पिता की सेवा करते हुए, नचिकेता सहसा ऐसे आवेश⁶ में आ जाता है। श्रद्धा शक्ति उसके हृदय में प्रकट होती है, और वो गंभीर विचार करने लगता है, “इन सबका उद्देश्य क्या है? जीवन क्या है? मृत्यु क्या है?” मानो उसके मन ने अनजाने में मृत्यु के द्वार की चाबी लगा दी हो। जीवित अवस्था में ही वह मृत्यु के लोक में प्रवेश करता है। उसे यमलोक में यमधर्म के दर्शन होते हैं। मृत्यु के स्वामी यमधर्म स्वयं उसे मृत्यु के रहस्य की दीक्षा देते हैं। मृत्यु के रहस्य का ज्ञान हो जाने पर जीवन की पहली सुलझ जाती है। इस दृष्टिकोण से ऐसा **आवेश** अत्यंत महत्वपूर्ण है। किसी तरह, एक धन्य क्षण में, मन, सभी भावनाओं, बुद्धि और इच्छाशक्ति के साथ, अपने सभी संसाधनों समेत, अनंत के द्वार में प्रवेश करता है और वहां खो जाता है। इस **आवेश** को प्रदान करने वाली शक्ति को **अनुग्रह** कहते हैं। चाहे अनुग्रह संसार में कर्म करते हुए मिले या समाधि अवस्था में मन को एकाग्र करके, यह अनुग्रह आत्मसाक्षात्कार प्रदान करता है। व्यक्ति में पूर्ण श्रद्धा और इस स्थिति को प्राप्त करने की तीव्र लालसा होना आवश्यक है—तभी इस आवेश के होने पर व्यक्ति उसे पहचान पाता है।

3 उप अर्थात् निकट, आसते अर्थात् बैठना। जिसका भगवान से घनिष्ठ संबंध है, वह उपासक है।

4 ग्रहाविष्ट-बुद्धिः।

5 कृष्णग्रहगृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम्। श्री. भा. ७.४.३७

6 श्रद्धा आविवेश। क.उप.१.१.२

गुरु नानक की भक्ति

यह किस्सा श्रद्धेय सिख गुरु श्री नानक के बारे में है, जो अपनी युवावस्था में भी एक महान रहस्यवादी थे। अपने परिवार की किराने की दुकान में काम करते हुए भी, हर समय, एक अंतर्धारा के रूप में, भगवान के नाम का जप और ध्यान उनके भीतर चलता रहता था। एक दिन जब किसी ने दुकान में आकर उनसे पंद्रह किलो गेहूँ मांगा, तब उनका आंतरिक भाव बड़े वेग से प्रत्यक्ष हो गया। गेहूँ तोलते समय “एक, दो, तीन, चार” आदि गिनती करते हुए, जैसे ही उनकी गिनती “तेरह” तक पहुँची, तब “तेरा” शब्द उनके मन में प्रकाशित हुआ। तत्काल उनके मन में दिव्य भाव का आवेश हो गया—“सब कुछ तेरा, सब कुछ तेरा”। वे परमानंद में नाचते-गाते हुए, गेहूँ इधर-उधर फेंकने लगे—“तेरा, तेरा, तेरा”। इस तरह अपना दैनिक काम करते समय उन्हें यह आवेश हुआ।

भक्ति साधना का प्रयोजन ही *आत्मरति*—*पराभक्ति* है—जो कि आत्मा का निर्बाध अनुभव है। आत्मा का अर्थ है शांति, प्रेम, बोध, आनंद, मोक्ष, संतुष्टि; ये सभी शब्द परमात्मा के पर्यायवाची हैं। भक्त के लिये, उसका आंतरिक भक्ति भाव ही उसका सारा जीवन है। इस दिव्य भक्ति अनुभव पर अपनी पकड़ बनाए हुए, भक्त इस संसार में गृहस्थ के रूप में, ब्रह्मचारी के रूप में अथवा सर्व-परित्यागी संन्यासी के रूप में हो सकता है। गृहस्थ का जीवन या कर्तव्य भक्त के लिए बाधक नहीं है परन्तु भक्ति-भाव पर अपनी पकड़ खो देने की समस्या से वो जूझता है। श्रीमद्भागवद् में कहते हैं,

मदुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥ श्री. भा. ३.२९.११-१२

सबके हृदय-गुहा में रहने वाले, मेरे गुणों का वर्णन
जिस क्षण शुद्ध हृदय वाला सुनता है
उसी क्षण उसका मन मुझमें लीन होने के लिए, मूसलाधार गति से बहने लगता है
उसी प्रकार, जैसे कि दिव्य गंगा सागर में मिल जाने के लिए बहती है
अकारण और निरंतर, वह मनमोहन पुरुषोत्तम से प्रेम करता है
यह वास्तव में निर्गुण भक्तियोग का संकेत है

नित्य-युक्ता: पद इस श्लोक हृदय है। अर्जुन का प्रश्न *सततयुक्ता* के बारे में था, और भगवान यहां नित्ययुक्ता के बारे में बात कर रहे हैं। दोनों का अर्थ एक ही है। योगी निरंतर अपने बिखरे हुए मन को एकाग्र करके उसे ध्यान में लगाता है—ईश्वर में स्थित करता है। मुमुक्षु का यह एकमात्र काम है। जो मन को कभी भी ईश्वर के आंतरिक आलिंगन से विचलित नहीं होने देते, वे ही सच्चे भक्त हैं। ऐसा नहीं है कि व्यक्ति एक दिन आनंद के चरम पर चढ़ता है, और दूसरे दिन विषाद की घाटी में गिर जाता है। उस तरह की निष्ठा हमारे कष्टों को दूर करने में समर्थ नहीं है। आध्यात्मिक अनुभव में दृढ़ता होनी चाहिए। जिन्होंने अपने मन को सर्वदा ईश्वर में लगा रखा है, उन्हीं को **नित्ययुक्ता:** कहते हैं।

युक्त उसे कहते हैं जो निरंतर आत्मा में स्थित होता है। इनमें जो सबसे श्रेष्ठ होते हैं, उन्हें **युक्ततमा:** कहते हैं। भगवान ने इस गुण के श्रेष्ठतम भाव को प्रकट करते हुए, इस पद द्वारा व्यक्त किया है कि ‘वे ध्यान करने वालों में सबसे श्रेष्ठ हैं; वे मुझमें नित्य रूप से स्थित हैं’।

फिर उनका क्या जो अक्षर आत्मा का हृदय में ध्यान करते हैं? भगवान अगले श्लोक में इसका उत्तर देते हैं।

१२.३-४

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥

**सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥**

तथापि, जो अपनी इंद्रियों को वश में करके, उस अक्षर, अव्यक्त, अवर्णनीय, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, अपरिवर्तनीय, अचल, सनातन की उपासना करते हैं, जो समचित्त हैं, जो सब प्राणियों के हित में लगे रहते हैं – वे मुझ को ही प्राप्त होते हैं।

अलग-अलग देखने पर इन श्लोकों का निहितार्थ बहुत गहरा है। इन श्लोकों में, ध्यान करने वाले के लिये, आत्मबोध पर अपनी पकड़ बनाए रखने के सूत्र उपस्थित हैं। 'संपूर्ण त्याग' वह भूमि है, जिस पर ध्यानरूपी परम सुगंधित पुष्प खिलता है। ज्ञात वस्तुओं का त्याग ही वह अग्नि है जिसमें से अज्ञात प्रकट होता है। जो नाशवान, बोधगम्य, संवेदनात्मक या मन-कल्पित है, देश और काल से सीमित है, विचार से उत्पन्न, सर्वदा गतिशील है—ये सभी 'ज्ञात' हैं। केनोपनिषद में कहते हैं⁷ – जो "सत्" है, वो न तो ज्ञात है, न ही अज्ञात। सत् ज्ञाता का ही स्वरूप है। यह बात इस श्लोक में प्रगाढ़ रूप से इंगित होती है। जब मन ज्ञात और अज्ञात की सीमा से परे चला जाता है, तब वह आत्मा में स्थापित हो जाता है। तब **अचिन्त्य** से पर्दा हट जाता है।

इन दो श्लोकों में उन लोगों का वर्णन है जिनमें संसार को त्यागने का साहस है—अर्थात् संन्यासी। त्याग अति दुर्लभ है। पूर्ण इंद्रिय-निग्रह और सब के प्रति समभाव का यहां वर्णन है। जब तक व्यक्ति सांसारिक जीवन में उलझा हुआ है, तब तक यह संभव नहीं है। **अविद्या के क्षेत्र में वास करता हुआ व्यक्ति सीमित भला ही कर सकता है। जो इस क्षेत्र से बाहर जाने का साहस करता है, वह सारे क्षेत्र का मंगल करता है।** तदनुसार, भगवान यहां उसे **सर्वभूतहिते रताः** के रूप में संदर्भित करते हैं—उसका सारा जीवन सर्व प्राणियों के हित में लगा है। उसका आनंद सबके सुख में है। **प्रबुद्ध महात्मा वास्तव में सबके मित्र हैं—सर्वभूतसुहृत्। वह सब में अद्वितीय आत्मा का दर्शन करता है। सबके साथ उसका गहरा संबंध है। वह सब के साथ एक है—सूक्ष्मतम प्राणी से लेकर महानतम तक। वह इस एकत्व के ज्ञान द्वारा सबके हृदय में प्रवेश करता है।** सबके हृदय में वह ईश्वर का ही दर्शन करता है—इसलिए भगवान कहते हैं, **मामेव प्राप्नुवन्ति**। वह कभी किसी को अलग नहीं देखता। वह जहाँ देखता है, उसे केवल पुरुषोत्तम देखते हैं। सब प्राणियों के हृदय में एक ही पुरुष है—कृष्ण, ईश्वर, आत्मा। उस एकत्व की स्थिति में वह निजी स्वार्थ से परे चला जाता है। केवल ऐसा ही व्यक्ति सच्ची लोकसेवा कर सकता है।

ऐसे व्यक्ति की इंद्रियां अंतर्मुख होती हैं—**सन्नियम्येन्द्रियग्रामं**। जब तक इंद्रियां अपने-अपने विषयों में खेलती रहेंगी, सभी रिश्ते-नाते अंततः इंद्रिय संतुष्टि के स्तर पर ही रहेंगे। तथापि, प्रबुद्ध महात्मा की इंद्रियां पूर्णतः विषयों से उपरत हैं। ऐसे ज्ञानी सब की ओर समदृष्टि रखते हैं – **सर्वत्र समबुद्धयः**। वे शरीर के आवरण के पीछे झाँकने और हर शरीर के भीतर छिपे ईश्वर को देखने में सक्षम हैं। इस कारण, उनमें नाम-रूप देखकर सांसारिक भाव उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसे ऋषि का मन उस **अक्षर** में दृढ़तापूर्वक स्थापित होता है—अक्षर, जो कभी परिवर्तित नहीं होता, अविनाशी आत्मा, जो सभी नाम-रूपों का आधार है।

ऋषि की व्यक्तित्वहीनता

अनिर्देश्यम्—उसे, इस या उस रूप से इंगित नहीं किया जा सकता। वह सारे नामों और रूपों से परे है। आत्मज्ञान हो जाने पर समझ आता है कि वास्तव में, अंदर कोई व्यक्ति नहीं है। शरीर एक तीर्थ स्थल अथवा मंदिर बन गया है जहां केवल ईश्वर निवास करते हैं। उसे व्यक्तिगत अथवा अव्यक्तिगत नहीं कहा जा सकता। वह परिभाषा से परे है, इसका नाम नहीं रखा जा सकता—**अनिर्देश्यम्**। भगवान रमण महर्षि ने ज्ञानोदय के पश्चात कभी अपना नाम नहीं लिखा। यदि कोई उनसे अपना नाम लिखने का अनुरोध करता, तो वे जवाब देते, "क्या नाम लिखें? कोई नाम ही नहीं है।" एक बार महर्षि ने एक कविता लिखी। उनके भक्त विश्वनाथन ने उनसे अनुरोध किया "भगवान, कृपया नाम भी लिख दें।" महर्षि ने नाम लिखा 'विश्वनाथन'! उन्होंने स्वयं को पूरी तरह उस **अनिर्देश्यम्** के साथ जोड़ लिया था जिसका कोई नाम नहीं।

ऐसे अनुभव का वर्णन अथवा किसी और से उसकी उपमा करना संभव नहीं है, क्योंकि उसका इंद्रियों द्वारा ग्रहण संभव नहीं है। वह अव्यक्त है। यह वो बोध है जो इंद्रियों और मन को जीवंत बनाती है। केवल ये ही है, जो सारे विश्व को प्रकाशित करती है। यह दृष्टा

का वास्तविक स्वरूप है; यह शुद्ध चित् है—जो तत्काल, यहीं और अभी है, जो हमारे अपने अस्तित्व का ही अनुभव है। अतः उपनिषद् इसे *अपरोक्ष* कहते हैं।

एक बार हृदय में 'उसका' बोध हो जाने पर, जहां भी जाओ, जो कुछ देखो, उसी ईश्वर, उसी आत्मा के दर्शन होते हैं। अतः वह *सर्वत्रगम* अर्थात् सर्वव्यापी है। खुली आँखों से ईश्वर के दर्शन होते हैं। सभी इंद्रियों से दिव्य तेज मन में व्याप्त होता है, और हृदय से वही तेज संसार में फैलता है। भगवान् शंकराचार्य कहते हैं " *चिन्मात्र विस्तारितं* —शुद्ध चैतन्य का अनुभव असीम रूप से विस्तृत होता है।"

अगला है *अचिन्त्य*—अब व्यक्ति को विचारों पर अंकुश लगाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह विचारों से परे जा चुका है। ज्ञानी महात्मा में भी मन काम करना जारी रखता है, परंतु इसे मन की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि यहां *चिन्ता* अर्थात् विचार प्रक्रिया, अहंकार से उत्पन्न नहीं होती। अब उनका मन आंतरिक सार को धुँधला नहीं कर पाता। जिसे मन छू भी नहीं सकता, उसे अचिन्त्य कहते हैं। एक बार जब कोई व्यक्ति अपने भीतर के सार, मूल-तत्त्व, आत्मा के संपर्क में आता है, तो वह जान जाता है कि यह एकमात्र ऐसी चीज है जो मन से अछूता है। मन केवल बाहरी सतह पर ही खेल सकता है। अधिकांश विचारक और ध्यान करने वाले, विचारों को अनुचित महत्व देते हैं। विचारों की शक्ति के बारे में अनेकों पुस्तकें लिखी गई हैं, लेकिन जब हम मूल चेतना के संपर्क में आते हैं, तो हमें पता चलता है, कि विचारों का, सार-तत्त्व से कोई संबंध ही नहीं है; वे अंतरिक्ष में इधर-उधर उड़ती हुई रुई के टुकड़ों के समान हैं। चैतन्य के आधार के बिना वे ऊर्जाहीन हैं। दूसरे शब्दों में, अन्ततः, ज्ञानी मन को भी आत्मा की शक्ति के रूप में ही देखता है। यहां तक कि जब आत्मा की ऊर्जा मन में घूमती रहती है और मन बहुत सक्रिय होता है, तब भी ज्ञानी महात्मा जानते हैं कि मन कुछ और नहीं अपितु ईश्वर की एक गतिशील अभिव्यक्ति है। अतः मन के क्रियाशील होते हुए भी ज्ञानी अपने अद्वैत बोध से नहीं फिसलता। ऐसी अवस्था में मन, अ-मन हो जाता है।

कूटस्थम्—यह वो तत्त्व है जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। आत्मसाक्षात्कार होने पर, व्यक्ति ऐसे क्षेत्र में स्थापित हो जाता है जो सदैव स्थिर रहता है। इसे कहते हैं *कूटस्थम्*। यह *अन्तःकरण* में छिपा होता है। मन में अज्ञान के अंधकार को *कूटम्* कहते हैं। इस अंधकार के भीतर चैतन्य की स्थिर ज्योति निवास करती है। इसलिये इस ज्योति को *कूटस्थ-दीप* भी कहते हैं। अज्ञान से उत्पन्न भ्रम और जटिलता को यहां अंधकार कहा गया है। अंधकार का यह मेघ आत्मा को नहीं ढक सकता। अंधकार का आभास भी आंतरिक ज्योति के प्रकाश के बिना संभव नहीं है। केवल ऐसा प्रतीत होता है कि अज्ञान का अंधकार अंतर्ज्योति को ढक रहा है, जैसे मानो मेघ सूर्य को ढक रहे हों। *कूटम्* का एक अर्थ केन्द्र भी है। हृदय-केन्द्र को *कूटम्* कहते हैं, क्योंकि यह हमारे व्यक्तित्व का केन्द्र है, वह केन्द्र जिससे सारे विचार उभरते हैं।

अचलं – यह स्थिर है, अचल। केवल इस तत्त्व में कोई हलचल नहीं होती।

ध्रुवं – यह सनातन केन्द्र है, सम्पूर्ण अस्तित्व का आधार।

योगी उस आत्मा का ध्यान करते हैं – *पर्युपासते*। मन को अंतर्मुख किये, वे आत्मध्यान करते हैं। इस पद के लिये निम्नलिखित श्रुति प्रमाण है – " *आत्मैत्येवोपासीत* (बृ. उप. १.४.७) – केवल आत्मा समझ कर ध्यान करो"। इस प्रकार की उपासना ध्यान की एक अत्यंत उन्नत अवस्था है, जिसमें ध्यान-कर्ता प्रत्येक वस्तु का आत्मा के रूप में ध्यान करता है।

इस श्लोक में भगवान् ने ज्ञानी महात्मा की अवस्था का उल्लेख किया है। इस स्थिति का अनुकरण कोई भी अदीक्षित व्यक्ति नहीं कर सकता। जब तक कोई व्यक्ति किसी प्रामाणिक आचार्य की छाया में नहीं आता, जब तक उसे यह झलक या कम से कम यह जानकारी नहीं मिल जाती कि वह भौतिक शरीर नहीं है, तब तक निराकार ईश्वर का ध्यान करने का प्रयास केवल आंतरिक उथल-पुथल और यातना की ओर ले जाएगा। यही बात अगले श्लोक में व्यक्त की गई है।

१२.५

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

उन लोगों के लिए कठिनाई अधिक है जिनका मन अव्यक्त पर केंद्रित है, क्योंकि अव्यक्त के लक्ष्य तक पहुंचना देहधारियों के लिए बहुत कठिन है।

इसके लायक बनो और इसे अपनाओ—यही आध्यात्मिक जीवन का नियम है। जो इसके लायक हैं, उन्हें अधिकारी कहते हैं। अधिकारी का क्या अर्थ है? अधिकारी वे हैं जिनकी इंद्रियां पूर्णतः नियंत्रण में हैं; जिन्होंने हर चीज में संयम प्राप्त कर लिया है; जो निरंतर उपासना करते हैं—भगवान के किसी रूप का ध्यान; और जिनका मन शुद्ध और एकाग्र हो गया है। ऐसा व्यक्ति उसी क्षण आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर लेता है जिस क्षण उसे उपदेश मिलता है—**तत्त्वमसि**। तुम ही वो हो। तुम आत्मा हो। प्रारंभिक अवस्था में ही, अधिकारी शरीर और मन को शुद्ध करके उच्चतम ज्ञान प्राप्त करने के लायक बन जाता है। निस्संदेह, मन या शरीर इस ज्ञान ग्रहण नहीं करता है। परन्तु यदि शरीर और मन को शुद्ध नहीं किया गया हो, तो वे श्रवण की प्रक्रिया को बाधित कर सकते हैं। मन लगातार विचारों, कार्यों या भावनाओं के बारे में बड़बड़ाता रहता है—'तुमने ऐसा किया है', या 'तुम्हें यह करना है' या 'तुम्हारी यह इच्छा है' या 'तुम्हारी वह प्रेरणा है।' जब ये सभी कोलाहल शांत हो जाते हैं, और साधक महावाक्य सुनता है, तो वह अपने भीतर स्वयं प्रकाशमान वास्तविकता को आसानी से पहचान लेता है। जब तक हम स्वयं को शरीर मानते हैं, हम अज्ञानी हैं। ऐसे व्यक्ति ने अभी तक उस बात को नहीं सुना जिससे उसे यह समझ आए कि 'मैं शरीर नहीं हूँ।' इस स्थिति में किस प्रकार का ध्यान संभव है? आज-कल बहुत लोग ध्यान अथवा 'मेडिटेशन' करने का दावा करते हैं। यह संभवतः मानसिक सुस्ती है, वास्तविक ध्यान नहीं। वास्तविक ध्यान वह है जो आत्मज्ञान के आधार पर स्थित है। कम से कम यह मूलभूत ज्ञान होना आवश्यक है के हम यह शरीर नहीं हैं। इस स्तर की समझ के बिना, कोई सत्य के द्वार में कैसे प्रवेश कर सकता है?

हम केवल अव्यक्त के सिद्धांत से आसक्त होकर उसे प्राप्त नहीं कर सकते। कुछ शुष्क बुद्धिजीवी स्वयं को गर्व से वेदांत का अनुयायी बताते हैं, परन्तु उन्होंने उपासना, भक्ति या गुरु-सेवा जैसे आवश्यक शुद्धिकारी अभ्यास पूरे नहीं किये हैं। उनकी अंतरात्मा की खोज विफल होना निश्चित है। ऐसे लोग मन को शुद्ध करने वाले क्रियाओं की निंदा करते हैं; वे भक्ति और भगवन्नाम जप का उपहास करते हैं और साकार ईश्वर की पूजा को अपरिपक्व मानते हैं। वे वेदों द्वारा निर्धारित शुद्धिकारी संस्कारों को भी खोखला और निरर्थक कहकर उन्हें ठुकराते हैं। इन्हें कहते हैं **अव्यक्तासक्त-चेताः**। वे तो बस अव्यक्त से मोहित हो गए हैं, जिसके बारे में उन्हें कोई जानकारी नहीं है। उनके लिये, निस्संदेह आत्मसाक्षात्कार बहुत कठिन है – **क्लेशोऽधिकतरः**।

अव्यक्त अर्थात् वह जो शरीर, मन और इंद्रियों से परे है; जिसकी सीमा नहीं, जिसका कोई विभाजन नहीं। यद्यपि आत्मा सदैव प्रकाशमान है, अधिकांश लोगों के लिये, यह केवल एक विचार या अवधारणा है। इसे अव्यक्त कहते हैं—अस्पष्ट। **अव्यक्त-गति** का अर्थ है ज्ञान मार्ग। कहा जाता है कि ज्ञान मार्ग आकाश या समुद्र में चले हुए मार्ग की तरह है। इस प्रदेश में मार्ग दिखाई नहीं देता। जो ऐसे मार्ग पर यात्रा करते हैं, अर्थात् ज्ञानी, उन्हें भी **अव्यक्त-गति** कहते हैं।

श्रीमद्भागवद् में शुकाचार्य को परीक्षित **अव्यक्त गति** कहकर संबोधित करते हैं—जो अगोचर मार्ग से यात्रा करते हैं⁸। अगोचर मार्ग से यह इंगित होता है कि कोई यात्रा ही नहीं है; यह आत्मा में स्थिरता का प्रतीक है, यहीं, अभी। प्रायः, जीव द्वारा तय किया गया मार्ग योगियों के लिए बोधगम्य होता है। परन्तु, शुकाचार्य जैसे जीवनमुक्त के विषय में कोई यात्रा आवश्यक नहीं है, क्योंकि आत्मा को प्राप्त करने के लिए कोई भी दूरी तय करने की आवश्यकता नहीं। उनकी गति अथवा पथ केवल ज्ञान ही है।

अपने भीतर 'मैं' के रूप में देदीप्यमान आत्मा को यहां अव्यक्त कहा गया है, क्योंकि जिस प्रकार हम एक फल को देख सकते हैं, पुष्प को सूँघ सकते हैं या किसी व्यक्ति को स्पर्श कर सकते हैं, उस प्रकार आत्मा इंद्रियों द्वारा पहचाना नहीं जा सकता। इस दृष्टिकोण से यह अव्यक्त है। परन्तु, वस्तुतः यह **अपरोक्ष** है—तत्काल, निकटतम। यह एकमात्र अनुभव है जो कभी भी खोया नहीं जा सकता। फिर भी, स्वयं को शरीर समझने की भूल व्यक्ति को प्राकृत अवस्था में ही रखती है—हमारे सबसे अधिक अंतरंग तत्व को पहचानने नहीं देती। अतः कहा जाता है कि शरीर से तादात्म्य रखने वाले व्यक्ति के लिए आत्मज्ञान संभव नहीं है। भगवान यहाँ **देहवद्विः** पद का प्रयोग करते हैं—अर्थात् वे, जो शरीर में रहते हैं। तो क्या शरीर का त्याग कर दिया जाए? नहीं! इस श्लोक का यह अभिप्राय नहीं है। वास्तव में, स्वयं में कोई शरीर है ही नहीं। यह केवल अज्ञान है जो कहता है कि हमारे पास शरीर है। प्रतिदिन सुषुप्ति की अवस्था में हम अनायास ही शरीर-शून्यता का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार, ज्ञान के द्वारा, हम शरीर को मात्र एक अध्यारोपण के रूप में पहचानने लगेंगे। ठीक उसी प्रकार जैसे अंधकार में रस्सी सांप जैसा दिखता है।

जब तक हम स्वयं को इस माँस की पोटली में कैद मानते हैं, तब तक हम अपने वास्तविक असीम स्वरूप को नहीं पहचान पाएंगे। जब तक हमें यह आधारभूत विषय समझ नहीं आती कि 'मैं शरीर नहीं हूँ', आत्मा के सत्य को समझना अत्यंत कठिन होगा; आत्मविद्या अंदर प्रवेश नहीं करेगी। यह इंगित करने के लिए, भगवान कहते हैं **क्लेशोऽधिकतरः** – उनके लिए अधिक कठिन है। महर्षि पतञ्जलि **क्लेश** शब्द की निम्नलिखित सुंदर परिभाषा देते हैं^१। मूल कारण अविद्या है—अपने वास्तविक स्वरूप को न जानना। उससे पैदा होती है **अस्मिता**—अहंकार 'मैं', और उससे, राग तथा द्वेष; फिर अभिनिवेश—शरीर और संसार के प्रति भावुक लगाव की मोहमयी भावना। ये सभी क्लेश कहलाते हैं, और इन सबका जड़ है अज्ञान। अतः अज्ञान ही एकमात्र कारण है इस विचार का कि "मैं शरीर हूँ"—जिसे **देहाभिमान** कहते हैं। जिस क्षण मन अंतर्मुख होकर अनंत आत्मा के दर्शन करता है, उसी क्षण यह समझ आ जाता है कि शरीर केवल चिदाकाश में तैर रहे मेघ के समान है; मैं वह अंतरिक्ष हूँ जहाँ मेघ आते जाते हैं, परंतु अंतरिक्ष में कोई बदलाव नहीं आता।

यद्यपि यहां कहा गया है कि अव्यक्त पर ध्यान करने का योग बहुत कठिन है, देखा गया है कि भगवान रमण महर्षि आदि महात्माओं ने इसे तत्काल ही प्राप्त कर लिया। एक क्षण वे यहां थे, और दूसरे क्षण आत्मबोध की अलौकिक उँचाइयों पर। कुछ लोगों के लिए, आत्मसाक्षात्कार एक क्षण में हो जाता है। स्वयं महर्षि का गीत है – "अरे! आत्मविद्या तो इतनी सुलभ है; सबसे सुलभ है।" स्वामी विवेकानंद कहते हैं, "आत्मा तो इतनी सुलभ है—कि वह तुम्हारे अस्तित्व जितनी सुलभ है।" हमारे अस्तित्व 'मैं' से अधिक सुलभ और क्या हो सकता है, जो सदा हममें विद्यमान है? फिर भी, हम शरीर, इंद्रियों और मन के निरंतर खिंचाव के कारण इसे देखने में असफल रहते हैं।

भगवान शंकराचार्य केवल आठ साल की आयु में अपने गुरु को मिले। उन्होंने केवल अपने गुरु के उपदेश का श्रवण किया, और ग्यारह साल की आयु में महामुनि बन गए। हम उन्हें किस साधना का श्रेय दें? ऐसे लोगों की कोई कमी नहीं है जिन्होंने महान संतों से आत्म-ज्ञान प्राप्त किया, और घोषणा की इसका कारण केवल गुरुकृपा ही था। इन प्रामाणिक उदाहरणों से इंगित होता है कि ज्ञान योग कठिन नहीं है। केवल मन की जटिलताएँ और हमारी अपरिपक्वता ही है जो इसे कठिन बनाती है। कच्चे और अपरिपक्व साधकों के लिए, यह कठिन प्रतीत होता है। **क्या कुछ भी आत्मा से अधिक अंतरंग और तत्काल हो सकता है? क्या कुछ भी 'मैं हूँ' रूपी सत् के अनुभव से अधिक तत्काल हो सकता है? 'सत् का कभी अभाव नहीं होता और असत् का अस्तित्व नहीं होता' – यह गीता का निर्विवाद निष्कर्ष है।** अतः आत्मा जैसा तत्काल और सरल और कुछ भी नहीं हो सकता। शरीर के साथ तादात्म्य लेशमात्र भी वास्तविक नहीं है, जबकि स्वयं के अस्तित्व का अनुभव सर्वदा देदीप्यमान है। फिर भी, यह भ्रम बना रहता है कि शरीर का अनुभव होते हुए, आत्मा का ज्ञान नहीं होता। इस भ्रम का निवारण करने के लिए, इस सत्य का एक ज्ञानी के मुख से श्रवण करके, इसका मनन और इस पर ध्यान करना आवश्यक है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कई बार कहा है पवित्र मन को आत्मा में स्थित करो—**आत्मसंस्थम्**। परंतु यदि व्यक्ति ने इस उपदेश को कभी सुना ही नहीं कि वो शरीर नहीं है, और उसने शरीर के साथ तादात्म्य बना रखा है, तो यह क्लेश अनुभव करना निश्चित है।

प्रेम का मधुर मार्ग

मेरे गुरु आ रहे हैं, जो सदा निवास करते अनंत में
सभी नामों और रूपों से परे हैं उनका घर
घाटियों या पहाड़ियों की ढलानों पर मिला मैं उनसे बार-बार
एक दिन संकल्प किया उन्हें ढूँढने का, उनके घर जाकर मिलने का
कुत्ते की भांति, अपने स्वामी की गंध ढूँढ ली मैंने
उनकी सुगंध थी दिव्य; किसी भी सांसारिक गंध से परे
जितना निर्मल था हृदय, उतना ही स्पष्ट था उनका अनुभव
मन की रेत पर चरण-चिन्ह देखे मनमोहन प्रीतम के
संघर्ष किया पावन और विषयी को अलग करने का
अंत में पहुंचा मैं उनके निवास द्वार पर

और शीघ्र ही नदी विलीन हो गई सागर में
मैं लीन हो गया उनमें, अनंत था मेरा शरीर; अनंत था मेरा नाम!
फिर भी कहीं न कहीं एक लालसा थी उन्हें देखने की
इसलिए उठा मैं मेघ बनकर, सूरज की स्वर्णिम किरणों समेटे
प्रेम का अमृत जल बनकर बरसा स्वर्ग से
फिर शुरू हुई मेरी लंबी यात्रा, लालसा की धारा बने
फिर आरंभ हुई मेरी मधुर प्रेम यात्रा,
अपने नीले प्रियतम को गले लगाने के लिए
पर लालसा के पीछे, गहराई में, मुझे है ज्ञान कि 'मैं ही मेरा प्रीतम हूँ'

१२.६-७

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

परंतु, जो मेरी उपासना करते हैं, अपने सारे कर्मों का मुझमें त्याग करते हैं, मुझे ही परम लक्ष्य मानते हैं, एकाग्र चित्त होकर मेरा ध्यान करते हैं, जिनके सारे विचार मुझ पर ही केंद्रित हैं, अति शीघ्र ही हे पार्थ, मैं उन्हें इस मृत्यु रूपी सागर पार कराने वाला बन जाता हूँ।

यह श्लोक और अगले दो श्लोक उस योगी का वर्णन करते हैं जिसने अपना संपूर्ण मन आत्मा को अर्पण कर दिया है। ऐसा योगी परमात्मा के साथ एक होकर, सदा समाधि में रहता है। शरीर या मन के साथ उसका कोई तादात्म्य नहीं रह गया है, और न ही करने को कोई कर्म। उसने नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त कर ली है।

भगवान् ऐसे योगी के बारे में कहते हैं, **ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य**—जिन्होंने अपने सारे कर्म मुझे अर्पण कर दिया। भगवान् शंकराचार्य कहते हैं¹⁰ "उन्होंने वैदिक धर्म, लौकिक कर्म तथा इंद्रिय विषयों का त्याग कर दिया है, और उनका एकमात्र व्यवसाय आत्मा में स्थित होना, समाधि में रहना है।" उनका एकमात्र लक्ष्य कर्तृत्व, भोक्तृत्व और अहंकार से मुक्त वह सर्वोच्च स्थिति है; जो सत्-चित्-आनंद, अर्थात् अस्तित्व-जागरूकता-आनंद है। भगवान् का **मत्परः** से यही मतलब है। "उनको इस संसार में कुछ प्राप्त नहीं करना है। मैं उनका एकमात्र सहारा हूँ। **अनन्येनैव योगेन**—वे अब अनंत से अलग नहीं खड़े, वे अनंत के साथ एक हो गये हैं। कोई अन्य नहीं है; उनका 'मैं', भूमा अर्थात् अनंत में मिल गया है। **मां ध्यायन्त उपासते**—वे सदा सर्वदा मेरा ध्यान करते हैं और समाधि में स्थित होते हैं।"

भगवान् शंकराचार्य कहते हैं,

अन्नादानविसर्गाभ्यामीषन्नास्ति क्रिया मुनेः।

तदेकनिष्ठया नित्यं स्वाध्यासापनयं कुरु॥ वि.चू. २८३

भोजन करने या अन्य शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा करने के अतिरिक्त, संन्यास की महत्वाकांक्षा रखने वाले को किसी अन्य गतिविधि में नहीं लगना चाहिए। इसलिए, एकाग्र ध्यान से, निरंतर आत्म-संयम द्वारा स्वयं पर लगे आरोपण को हटाओ।

जिन्होंने संसार का त्याग कर दिया हो और ईश्वर में पूर्णतः शरण ले लिया हो, ऐसों के बारे में भगवान् कहते हैं, **"तेषां अहं मृत्युसंसारसागरात् समुद्धर्ता भवामि** – मैं उनका कष्टों से उद्धार करने वाला बनूँगा। मैं उनकी रक्षा करूँगा। मृत्यु के सागर रूपी संसार से जूझने के कारण उन्हें जो पीड़ा होती है, मैं उन्हें उससे मुक्ति दूँगा। जब उनका मन मुझमें प्रवेश करता है—**मय्यावेशित चेतसाम्**, उसी क्षण, बिना विलंब के, **न चिरात्**, वे सदा बहने वाली मृत्यु-धारा से मुक्त हो जाते हैं।" यह जीवन ही मृत्यु की धारा है। जब मन बहिर्मुखी होता है, तब व्यक्ति मृत्यु की धारा में गिर जाता है। वह क्षण जब मन अंतर्मुखी होकर आत्मा में स्थित हो जाता है, उसे ही अमरता कहते हैं, **अमृतं**। वे तुरंत मृत्यु से मुक्त हो जाते हैं।

तेषां अहं समुद्धर्ता—मैं उन्हें संसार से पूर्णतया ऊपर उठा दूँगा। कैसे? ज्ञानी सत्-गुरु के रूप में प्रकट होकर, यह उपदेश देकर—"अपने अंदर देखो और आत्मा का बोध करो।"

विशेष बात

10 सन्न्यस्ताखिलधर्मकर्मविषयैः नित्यात्मनिष्ठापरैः। वि.चू. ३४१

पिछले अध्याय (११.५४) में भगवान ने कहा *भक्त्या त्वनन्यया शक्यः*। इस श्लोक में उस विषय को जारी रखते हुए, भगवान कहते हैं, *अनन्येनैव योगेन* – वो मुझसे अलग नहीं होता। ईश्वर से अलग कोई 'मैं' नहीं होता; केवल ईश्वर का अस्तित्व है। भक्त का अहंकार रूपी "मैं" ईश्वर में विलीन हो गया है; ईश्वर के साथ एक हो गया है; ईश्वर बन गया है। नदी न रही; केवल सागर ही है। अतः *अनन्य योग* का अर्थ है कि केवल ईश्वर है; जीव भाव पूर्णतः समाप्त हो गयी है। इस प्रकार, *अनन्येनैव योगेन* भक्ति की उस उंचाई को इंगित करता है, जहां अहंकार पूरी तरह ईश्वर को समर्पित हो गया है।

मां ध्यायन्त उपासते – ऐसी एकाग्र भक्ति के साथ उनका मन मेरा ध्यान करता है, और शरीर मेरी पूजा करता है। *ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य* – सारे कर्मों को मुझे अर्पण करके, उनका त्याग कर दिया गया है। यहाँ *सन्न्यास* का अर्थ है पूजा अथवा अर्पण करना। सारे कर्म ईश्वर को पूजा के रूप में अर्पण कर दिये गये हैं।

हम जहां भी हों, वहीं से अपनी आध्यात्मिक साधना शुरू करना बेहतर है। हमें अपने कर्म को पूजा के रूप में करना चाहिए, इस निष्ठा समेत कि हम जो कुछ भी देखते हैं उसके पीछे परमेश्वर हैं। इस प्रकार, भगवान और सद्गुरु के निरंतर स्मरण के साथ, भगवन्नाम का जप करते हुए और दिखने वाले सभी रूपों में उनकी पूजा करते हुए, व्यक्ति को *सतत-योगी* बनना चाहिए। निम्नलिखित श्लोक भक्तों में प्रसिद्ध है। इस गीता श्लोक का सार एक प्रार्थना के रूप में प्रस्तुत है।

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुध्द्यात्मना वा प्रकृते स्वभावात्।

करोमि यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयामि॥

अपने स्वभाव से प्रेरित होकर, मैं शरीर से, वाणी से, मन से, इंद्रियों से या बुद्धि से जो भी कर्म करता हूँ—वह सब मैं नारायण को अर्पित करता हूँ।

इस श्लोक में भक्त अपना सर्वस्व, अपना कर्तृत्व तथा अपना अहंकार ईश्वर के चरणों में अर्पित करता है। ये है भक्ति।

इसे प्राप्त करना कैसे संभव है?

मत्परः – मैं उनका एकमात्र आधार हूँ। उनके लिये, मेरे अतिरिक्त किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। इस कारण वे पूर्ण समर्पण समेत अपने सभी कर्म मुझे अर्पित कर देते हैं। ऐसे लोगों को संसार से मुक्त होने की भी चिंता नहीं होती। लेकिन उनकी चिंता मैं करता हूँ, क्योंकि वे पूरी तरह से निःस्वार्थ तथा अहंकारहीन हैं। भगवान आगे कहते हैं, "मैं उन्हें सहारा दे रहा हूँ; उन्होंने मुझे नहीं पकड़ रखा है।"

भक्ति-मार्ग में दो पथ बताए गए हैं—'बंदर के बच्चे का पथ' और 'बिल्ली के बच्चे का पथ'। *मर्कट-किशोर-न्याय* अर्थात् बंदर के बच्चे के मार्ग में बच्चा माँ को पकड़े रहता है। यहां तक कि जब मां-बंदर उछल-कूद करती है, तब भी बच्चा अपनी बांहों और पैरों से माँ को कस कर पकड़ा रहता है। बच्चे को पकड़ने की परेशानी माँ नहीं उठाती। इसकी तुलना भक्ति की स्थिति से की जा सकती है, जहां भगवान को पकड़कर भक्त रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि भक्त को निरंतर प्रयास के माध्यम से अपनी ध्यान-साधना जारी रखनी चाहिए। इसके लिए, वह विभिन्न शास्त्रीय क्रिया-कलाप करता है जैसे पूजा, भगवान के रूप का ध्यान, उनके नाम का जप, भक्ति ग्रंथों का अध्ययन, भक्तों के साथ संपर्क रखना, इत्यादि। इस प्रकार वह प्रेम पूर्वक प्रभु का स्मरण करता रहता है। जब उसका मन भगवान का स्मरण करना भूल जाता है, तो वह बिन पानी की मछली की तरह खोया हुआ महसूस करता है। नारद-मुनि ने भक्ति-सूत्र में इसका चित्रण किया है¹¹, "वह अपने सभी कर्म उसे (ईश्वर को) अर्पित करता है, और जब वह उस पर अपनी पकड़ खो देता है, तो उसे असहनीय व्याकुलता होती है।" इस स्थिति में भक्त अपने मन, इंद्रियों और शरीर की सारी शक्ति लगाकर भगवान पर अपनी पकड़ बनाए रखने का प्रयास करता है। उसका हृदय पूर्णतः ईश्वर पर स्थित है। तथापि, जब प्रारब्ध की आक्रामक लहरें भक्ति भाव को भुला देती हैं, तो भक्त अत्यंत वेदना से जूझता है। इस पथ पर, भक्त की इच्छा शक्ति का पूर्णतः प्रयोग तब तक होता है जब तक वह समाप्त न हो जाए। इसे कहते हैं बंदर-के-बच्चे का मार्ग।

दूसरा मार्ग है *माजरि-किशोर-न्याय*—बिल्ली और बिलौटे का मार्ग—बिलौटा अपनी माँ को पकड़ने का प्रयास नहीं करता। वह असहाय, करुण रूप से म्याऊं-म्याऊं करता रहता है जब तक कि माँ बिल्ली आकर उसे पकड़ नहीं लेती और उसकी देखभाल नहीं करती। इसी तरह, भगवान अपने भक्त को माँ की भांति सहारा देते हैं, जो उनका अनुग्रह है। मर्कट-किशोर-न्याय से का तात्पर्य

आत्मप्रयास की स्थिति से है, जबकि मार्जार-किशोर-न्याय का तात्पर्य अनुग्रह की स्थिति से है। जब प्रभु की शक्ति आपके बारे में चिंतित हो, और उनकी करुणा आप पर बरस रही हो, तो जान लें कि उन्होंने आपको सुरक्षित पकड़ रखा है। फिर, आप बिना किसी चिंता के, बेहिचक आगे बढ़ सकते हैं। समझें कि भगवान ने हमें वैसे पकड़ रखा है जैसे माता-पिता अपने बच्चे सुरक्षित रखते हैं। अब हमारा किसी प्रकार का पतन संभव ही नहीं है।

मर्कट-किशोर-न्याय और मार्जार-किशोर-न्याय

एक बार, एक चतुर भक्त ने रमण महर्षि से कहा, "भगवान, मैं केवल बिल्ली के बच्चे की तरह रो सकता हूँ। मेरे पास बंदर-के-बच्चे की तरह पकड़ने की शक्ति नहीं है। आपको, बिल्ली की तरह, आकर मुझे पकड़ना होगा।" यह सुनकर, महर्षि मुस्कुराए, और उन्होंने कहा "यह संभव नहीं है। तुम्हारी ओर से, तुम बंदर के बच्चे जैसे रहो, और मेरी ओर से, मैं माँ-बिल्ली के जैसे।" यह उत्तम उत्तर इस पूरी प्रक्रिया का सारांश प्रस्तुत करता है।

कभी-कभी सपने में हमें किसी विकट समस्या का सामना करना पड़ता है, लेकिन जब हम जाग जाते हैं, तो समस्या समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार हमारी सभी सांसारिक समस्याओं का एकमात्र समाधान *त्याग* ही है। अहंकार समेत अपने सारे कष्टों का त्याग करो। जब तक आप जीव-भाव अथवा व्यक्तित्व की भावना का आश्रय लेंगे, तब तक सभी कष्ट जारी रहेंगे। अगर आप इस कष्ट का एक निवारण करेंगे, तो संभावना है कि वह किसी और रूप में दोबारा सामने आए। इससे बेहतर होगा कष्ट झेलने वाले का त्याग—अर्थात् अहंकार का त्याग। यह केवल ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण द्वारा हो सकता है। तब भगवान आपको आत्मज्ञान प्रदान करेंगे। वे कहेंगे—“मेरे प्रिय, केवल मेरा ही अस्तित्व है; तुम्हारा अस्तित्व नहीं है।” वे आपके कान में यह महावाक्य, यह रहस्य कहेंगे, और एक ही क्षण में, आप उनमें विलीन हो जाएंगे। यह बिना किसी विलंब के होता है। *न चिरात्*—दीर्घकालीन अभ्यास के पश्चात् नहीं। भक्ति सबसे छोटा रास्ता है। आप केवल कहते हैं, “प्रभु, मैं चल नहीं सकता!” और मानो वे आपको हवा में उठा लेते हैं, और आपकी जागरूकता ही बदल जाती है। आप बंधन की भूमि से स्वतंत्रता की भूमि में पहुँचा दिये जाते हैं। एक क्षण में आप जन्म, वृद्धावस्था, मृत्यु, रिश्ते-नाते, प्रेम, घृणा और ईर्ष्या के भयानक समुद्र से मुक्त हो जाते हैं। अज्ञानयुक्त जीवन का सागर कितना उपद्रवी है! भगवान घोषणा करते हैं, “मैं उस सागर से तत्काल ही तुम्हारा उद्धार कर दूँगा।”

अतः, मुक्ति का सबसे सुरक्षित तरीका यह है कि व्यक्ति शरीर, इंद्रियां, मन—सब कुछ ईश्वर को अर्पण करे। आप जो कुछ भी करते हैं, उसे पूजा के रूप में करें, भक्ति के रूप में करें, और सदैव ईश्वर के चरणों को थामे रहें।

अगले श्लोक में, जैसे माँ अपने बच्चे को प्रेम से कहती है, भगवान भी अपने भक्त को कहते हैं “निराश मत हो। मैं अभी तुम्हें तुम्हारे सारे कष्टों से ऊपर उठाकर अपनी गोद में रखता हूँ। तुम तो मेरे लाडले हो।”

१२.८

**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्व न संशयः॥**

केवल मुझमें मन लगाओ, तुम्हारी बुद्धि भी मुझमें ही हो। फिर, तुम्हारा निवास मुझमें ही होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है।

यह श्लोक पिछले कुछ श्लोकों के उपसंहार जैसा है। यह समाधि स्थिति का वर्णन करता है—वह ब्राह्मी स्थिति जहां मन और बुद्धि पूर्णतः आत्मा में स्थित हो जाते हैं। मन की छवि-निर्माण शक्ति और बुद्धि की निर्णय-शक्ति, शुद्ध *सत्-चित्* में समा कर शांत हो जाते हैं। रह जाता है तो केवल शुद्ध जागरूकता का अनुभव—*निर्विकल्प समाधि*। इस क्षण के पश्चात्, मानो व्यक्ति उस अव्यक्त में लुप्त हो गया—उस परमेश्वर, पुरुषोत्तम में। केवल ईश्वर का अस्तित्व है।

यहाँ भगवान कहते हैं “*मयि एव मनः आधत्स्व*—मन को केवल मुझमें लगाओ।” बिखरे हुए मन को समेट कर उसे केवल भगवान में लगाना—यह एक साधारण भक्त के लिए जीवन भर का प्रयास है। वास्तविक ध्यान तब होता है जब झिलमिलाहट-रहित दीपक की लौ की भांति, मन ध्यान में स्थिर रहता है। वहाँ, सब प्रकार की व्याकुलताएं समाप्त हो जाती हैं।

मयि बुद्धि निवेशय—बुद्धि भी ईश्वर में स्थित है। यह श्रीमद्भागवद् आदि दिव्य ग्रंथों को पढ़कर होता है। जो व्यक्ति अपना सारा जीवन *स्वाध्याय* में लगाता है, वह अपनी बुद्धि शुद्ध रखता है। वेदों में *स्वाध्याय* को *देव-पवित्र* कहा गया है—अर्थात् स्वाध्याय दैवीय रूप से शुद्ध करने वाला है। दिव्यग्रंथों का निरंतर पाठ बुद्धि को धोकर साफ कर देता है। ये वास्तविक गंगा-स्नान है।

आध्यात्मिक साधना में हमारे सारे प्रयासों और संघर्षों का उद्देश्य मन को ईश्वर में स्थापित करना है। जब ऐसा होता है, तो 'मैं' की स्मृति लुप्त हो जाती है; 'मैं'—भाव निष्क्रिय हो जाता है। मानव मन 'मैं' ऐसा हूँ, 'मैंने ऐसा किया', 'मैंने वैसा किया', इत्यादि का निरंतर प्रवाह है। अपने बारे में यह चिंतन ही संसार का प्रवाह है। यह चिंतन या तो हमारी अच्छाई पर गर्व के रूप में हो सकता है या किसी गलत काम के लिए दोष अनुभव करने के रूप में हो सकता है। 'मैं'—भावना के बुझने पर ही इस प्रवाह का अंत संभव है। प्रकाश के आने पर ही अंधकार समाप्त होता है। वैसे ही, मन के ईश्वर में स्थित होने पर ही अहंकार समाप्त होता है; केवल तब जब मन व्यक्तित्व में वास करना छोड़ देता है।

मन तथा बुद्धि, दोनों मिलकर व्यक्तित्व बनाते हैं। बुद्धि निर्धारण-क्षमता है। बुद्धि में अज्ञान, दृढ़ निश्चय के रूप में उत्पन्न होता है—'मैं यह व्यक्ति हूँ या 'मैं फलाँ हूँ'। श्रवण, मनन और निदिध्यासन से यह दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि 'मैं यह व्यक्ति नहीं हूँ।' अहंकार, मन में जागरूकता का प्रतिबिम्ब मात्र है। इस अज्ञान के मिटने पर बुद्धि शांत हो जाती है। वेदांत के अनुसार, बुद्धि दिमाग अथवा मस्तिष्कीय पदार्थ नहीं है। बुद्धि निश्चय करने की क्षमता है जो चित्त में होती है। जिस क्षण यह सांसारिक क्षेत्र में कार्य करना बंद कर देती है और शाश्वत सत्य में स्थित हो जाती है, तब बुद्धि स्वयं आत्मा बन जाती है। उसके पश्चात् बुद्धि में किसी तरह की हलचल नहीं होती।

इसके बाद मन है, जो संदेह, कल्पना, स्मृति, भावना आदि रूपों में आता है। मन केवल तभी कल्पना कर सकता है, संदेह कर सकता है, उत्तेजित या उदास हो सकता है जब अहं-बोध उपस्थित हो; और अहं-बोध इस अज्ञान पर आधारित है कि यह 'मैं'—भाव वास्तविक है। जब यह भ्रम बुद्धि से निकल जाता है, तब मन भी शांत हो जाता है। यद्यपि वह अपनी पूर्व गति के अनुसार कार्य करना जारी रखता है, तथापि उसकी गति धीमी होती जाती है, और वह अपने आधार-रूपी दिव्य-तत्त्व की सुगंध जानने लगता है। धीरे-धीरे, वह ईश्वर का ध्यान करने लगता है, और शीघ्र ही, यह ध्यान के एक सतत प्रवाह में परिवर्तित हो जाता है। पहले जो 'मैं' अमुक हूँ या 'मैं' वो हूँ का निरंतर प्रवाह था, वह धीरे-धीरे लुप्त हो जाता है। मन को ईश्वर पर केंद्रित रखने का यही अर्थ है।

जैसे ही मन और बुद्धि आत्मा में स्थित होते हैं, व्यक्ति शरीर या संसार में नहीं, अपितु दिव्य लोक में रहता है। भगवान कहते हैं, "अब तुम मुझमें निवास करोगे, हे अर्जुन। जिस क्षण तुम मेरे प्रति समर्पित हो जाते हो, तब से तुम इस पृथ्वी पर नहीं, वैकुण्ठ में वास करते हो! मृत्यु के पश्चात् वैकुण्ठ जाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसी क्षण तुम वैकुण्ठ में हो।" *कुण्ठ* का अर्थ है द्वैत, और वैकुण्ठ का अर्थ है अद्वैत; अर्थात् तुम्हारी जागरूकता में कोई द्वैत या विकल्प नहीं है। तुम सभी विघ्नों से मुक्त हो क्योंकि तुम्हारे लिए अब से केवल भगवान ही विद्यमान हैं। महाराष्ट्र के संत तुकाराम गाते हैं, "मैंने अपना सच्चा घर निष्कलंक—निरंजन में पा लिया है। यहीं मेरा वैकुण्ठ है"

अतः अपना मन और अपनी बुद्धि मुझे अर्पण करो। बुद्धि *व्यवसायात्मिका* बने, और मन योग में स्थापित हो। जब मन और बुद्धि आत्मा में स्थापित होते हैं, फिर *निवसिष्यसि*—तुम निवास करोगे। *मय्येव*—केवल मुझमें। *अत ऊर्ध्वं न संशयः*—इसमें लेशमात्र भी आशंका नहीं है कि अब से तुम मुझमें ही रहोगे।

भगवान शंकराचार्य *अत ऊर्ध्वं* के विषय में कहते हैं¹² "शरीर के गिर जाने के पश्चात्।" शास्त्रों के अनुसार, मृत्यु वास्तव में शरीर का गिरना नहीं है। आत्मज्ञान ही वास्तव में शरीर का गिरना है। केवल मृत्यु शरीर से मुक्ति नहीं दे सकती। आत्मज्ञान के बिना, मृत्यु के पश्चात् भी शरीर का भार उठाना पड़ता है। "मैं कौन हूँ?"—इस अन्वेषण से ज्ञात होता है कि 'मैं' के पास कोई शरीर ही नहीं है। हम स्वाभाविक रूप से शरीर-रहित हैं; हमारा स्वभाव ही शरीर की धारणा से मुक्त है। इस सत्य का भान होने पर "मैं शरीर हूँ"—यह भ्रम मिट जाता है। अतः *शरीरपतात् ऊर्ध्वं* का अर्थ है जब बुद्धि को सत्य का भान होता है, मन अहंकार-रहित अवस्था में स्थित हो जाता है, आत्मा में स्थित हो जाता है—तब मानो शरीर का पतन हो गया, और *निवसिष्यसि मय्येव*—तुम सीमा-रहित स्थिति में रहोगे; अनंत में, ब्रह्म में।

न संशयः—लेशमात्र भी संशय नहीं। अहंकार 'मैं' के निष्क्रिय होते ही सारी आशंकाओं का अंत हो जाता है, मन शांत हो जाता है, तथा बुद्धि स्वयं के सत्य के विषय में दृढ़ता से आश्वस्त होती है— इसे वेदांत विज्ञान कहते हैं। फिर आध्यात्मिक जीवन का भव्य समापन होता है, ब्राह्मी स्थिति—आत्मा में निरंतर स्थित रहना। निर्विकल्प समाधि सहज हो जाती है—सहज समाधि। ये तीन श्लोक (१२.६-८) नौवें अध्याय के श्लोक अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्... (९.२२) की टिप्पणी के समान हैं। इस अध्याय के छठे श्लोक में भगवान कहते हैं "अनन्येनैव योगेन माम् ध्यायन्त उपासते—वे सदा सर्वदा मेरा ध्यान करते हैं, समाधि में स्थित रहते हैं, उनका अहंकार—'मैं' अनंत में मिल गया है।" सातवें श्लोक में भगवान योगक्षेमं वहाम्यहम् का अर्थ समझाते हैं। "तेषां अहं मृत्यु-संसार-सागरात् समुद्धर्ता भवामि - मैं उन्हें उस दुःख से मुक्त कराऊंगा जो संसार से जुड़ने के कारण आता है।" आठवें श्लोक में भगवान पर्युपासना का अर्थ समझाते हैं - "मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेश्य - मन और बुद्धि मुझ आत्मा पर लगाओ।" इन तीन श्लोकों से समझ आता है कि हमें कैसे बिना किसी अनवधान के, दृढ़ भक्ति के साथ प्रभु का ध्यान करना चाहिए। वह व्यक्ति जो अन्य सभी आश्रयों का त्याग करके केवल ईश्वर का ध्यान करता है, उसकी देखभाल ईश्वर-प्रेम की सर्वोच्च शक्ति करती है।

यह उन लोगों के लिए संभव नहीं है जिन्होंने अपना मन सांसारिक वस्तुओं और सांसारिक सुखों को दे रखा है। प्रश्न उठता है —"उन वस्तुओं से मन को हटाकर ईश्वर पर लगाने में अत्यंत परिश्रम लगता है। मैं ये कैसे करूँ प्रभु?" भगवान अगले श्लोक में इसका उत्तर देते हैं।

१२.९

**अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥**

यदि तुम अपना मन स्थायी रूप से मुझ पर केंद्रित करने में असमर्थ हो, तो हे धनंजय, अभ्यास-योग के माध्यम से मुझ तक पहुँचने का प्रयास करो।

जिस अवस्था में सारी इंद्रियां अंतर्मुख हैं, मन शांत है, और बुद्धि भी कोई सुझाव नहीं देती, उसे समाधि कहते हैं। उस अवस्था में, शुद्ध चित् अज्ञानता की सारी गंदगी से स्वच्छ होकर, 'मैं-मैं' के रूप में प्रकाशमान होता है। ध्यान के समय शुद्ध चित् का यह स्पंदन हृदय-केंद्र में स्पष्ट रूप से जान पड़ता है। हृदय—वह केंद्र जहाँ समाधि का अनुभव होता है, वह अनंत है। यह हृदय केवल तब पहचान में आता है जब मन और बुद्धि शांत होते हैं। इस अवस्था में हमने अपने वास्तविक घर को ढूँढ़ लिया है—ईश्वर की गोद, जहाँ हमें शाश्वत विश्राम प्राप्त है। पिछले श्लोक में अपना आश्वासन देते हुए भगवान ने कहा "निवसिष्यसि मय्येव—तुम मुझमें ही वास करोगे।" जिसका मन समाधि में हो, वह ब्रह्मलोक में निवास करता है। वह इस लोक में वास नहीं करता, क्योंकि उसके लिये सब कुछ ब्रह्म ही है। अत्यंत दुर्लभ प्राणियों को क्षण भर में ही आत्मा में ऐसी स्थापना प्राप्त हो जाती है। जिस क्षण वे किसी ज्ञानी-महात्मा की सन्निधि में आते हैं, या गुरु के मुख से एक शब्द या उपदेश सुन लेते हैं, उसी क्षण उनका हृदय-केंद्र खुल जाता है; मन उसमें प्रवेश कर सनातन विश्राम को प्राप्त हो जाता है। ऐसा निश्चित रूप से उनके पिछले जन्मों में की गई आध्यात्मिक साधना के कारण ही है। अतः उनकी तुलना सामान्य साधकों से नहीं की जा सकती। "अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्—यदि तुम अपने मन को स्थिर समाधि की अवस्था में लाने में असमर्थ हो," भगवान कहते हैं "सही माध्यम से प्रयास करो, हे अर्जुन!" प्रायः साधक शुरुआती चरणों में, उच्च केंद्र में स्थापित नहीं हो पाते। यह अपर्याप्त अभ्यास के कारण है। मन मुख्यतः बुद्धि द्वारा दी गई गलत सूचना के कारण बाहर की ओर भागता है, कि बाहर कुछ आकर्षक वस्तुएँ हमारी प्रतीक्षा कर रही हैं। इस व्याधि के लिए मारक औषधियाँ हैं श्रवण और मनन—श्रद्धा के साथ सुनना, और सुने हुए उपदेश का निरंतर गहन चिंतन। यह समझना अनिवार्य है कि आत्मा से अन्य कुछ भी वास्तविक नहीं है। आत्मा से अन्य चाहे कोई भी वस्तु हो, वह एक-न-एक दिन हमें अत्यंत दुःख पहुँचा कर, हमें छोड़ कर चला जाएगा।

जैसे ही बुद्धि वेदांत श्रवण के निर्मल जल से धुल कर साफ होते हैं, वैसे ही यह व्याधि जड़ से निकल जाती है। मानो किसी ने अज्ञानता रूपी वायरस का मारक प्रयोग कर लिया हो। अज्ञान एक आवरण है—वह पर्दा जिसने आत्मा को ढक दिया है। उस पर्दे को हटाना आवरण-निवृत्ति है—आवरण से मुक्ति। आत्मज्ञान, या आत्मा-की-झलक मिलने पर भी पुरानी आदतों के कारण मन आकर्षक इंद्रिय-विषयों की ओर भाग सकता है। यह भी विनाशकारी सिद्ध हो सकता है।

गुरु और शिष्य – उग्र प्रारब्ध

एक शिष्य ने अपने गुरु के पास खेद व्यक्त किया कि वह अपनी सुंदर पत्नी के प्रति आसक्ति के कारण अपने मन को शांत नहीं कर पा रहा है। गुरु ने कहा "प्यारे, जानो कि यह केवल एक स्वप्न है।" इस पर शिष्य ने चौंका देने वाला जवाब दिया। "स्वामी, मैं जानता हूँ कि यह केवल एक स्वप्न है। परन्तु प्रायः ही स्वप्न जाग्रत अवस्था से अधिक मधुर होते हैं।" गुरु ने हँस कर कहा, "इसे उग्र प्रारब्ध कहते हैं—विधि का तीव्र विधान। व्यक्ति इस उग्र प्रारब्ध से आसानी से मुक्त नहीं हो सकता। यह केवल अत्यंत पीड़ा देने के बाद ही समाप्त होता है। दूसरा विकल्प यह है कि, ज्ञान को इतना शक्तिशाली बनना होगा कि वह तुम्हें बता सके कि तुम संकट में हो। केवल तब ही तुम उससे बाहर आ सकोगे।"

मिथ्या ज्ञान भ्रम की ओर ले जाता है। बाध्य करने वाली सोच, विचारों का सिर चढ़ जाना—इसे विक्षेप कहते हैं। इससे अपार दुःख उत्पन्न होते हैं। इस दुःख से मुक्ति के लिए मन को संसार से हटा कर आत्मा में स्थापित करना अनिवार्य है। निरंतर समाधि अभ्यास आवरण और विक्षेप, दोनों को हटाने में सक्षम है।

इस रोग के निदान और उपचार के लिए दो औषधियों की आवश्यकता है—पहला है निरंतर साधु संग, और दूसरा है श्रद्धापूर्वक नियमित रूप से ध्यान-अभ्यास। दीर्घ काल तक ध्यान का अभ्यास और सत्संग इन दोषों को धीरे धीरे मिटा देते हैं, और व्यक्ति ईश्वर के अनुग्रह की धारा में आ जाता है। एक बार इस दिव्य तत्व का स्पर्श हो जाने पर साधक भविष्य की सारी आध्यात्मिक आपदाओं से सुरक्षित रहता है। अतः *अभ्यास* और *वैराग्य*, साधक रूपी पक्षी के दो परों के समान हैं जिनसे वह आध्यात्मिक अनुभव के दिव्य लोक तक उड़ान भरता है।

इसीलिए भगवान ने अभ्यास-योग का मार्ग बताया है – जिसका वर्णन उन्होंने छठे अध्याय में विस्तार में किया था। आध्यात्मिक साधना किसी भी प्रकार की हो सकती है। भक्ति साधना में, भगवन्नाम का जप, भगवान की दिव्य सन्निधि में आँसू बहाना, प्रभु को अपनी सारी कमियाँ बताना आदि। भक्त के मन को शुद्ध करने के लिए आँसू उत्तम साधन है। श्री रामकृष्ण कहते थे कि आँसू से बढ़कर कोई वस्तु व्यक्ति को शुद्ध नहीं करती। ये सारी क्रियाएँ मन को निर्मल बनाती हैं। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण बात, निस्संदेह, संतों की संगति है। एक नये साधक के लिए, संतों के साथ यह बाहरी संपर्क, उसकी अपनी आध्यात्मिक साधना से भी अधिक महत्वपूर्ण है। धीरे-धीरे मन स्वाभाविक रूप से ध्यान की धारा में चला जाता है, जिससे साधना का दूसरा चरण प्रारंभ होता है—इस चरण में एकांत में रहना और लोगों के साथ मेलजोल बंद करना आवश्यक है। यहाँ व्यक्ति अपने मन को अनुशासित करने, ध्यान करने, स्थिर रहने के लिए उद्यत होता है। एक बार यह बात सुनने में आ गया कि आपकी आत्मा ही ब्रह्म है, फिर और क्या करना बाकी रह गया है? बस शांत रहो। इसके पश्चात व्यक्ति की सारी मानसिक क्रियाएँ भी समाप्त हो जाती हैं। ऐसे व्यक्ति के लिए अब कोई कर्तृत्व संभव नहीं है। वह अब बस सहज स्थिति में है—सहज, सुलभ शांति की स्थिति।

यहाँ भगवान *अभ्यास-योग* के बारे में कहते हैं—जिसको *निदिध्यासन* भी कहा जाता है। इसका अर्थ है मन को परिश्रम के सहयोग से *समाधि* में रखना। भगवान कहते हैं—"यदि तुम अपने मन को समाधि में नहीं रख पा रहे हो, तो अभ्यास—रूप योग का पालन करो।" *समाधि* वह स्थिति है जिसमें मन, बिना किसी विचार के, आत्मा में रहता है—*आत्म-संस्थम्*। यदि व्यक्ति ध्यान करते समय अत्यंत आनंद का अनुभव करता है, परंतु मन के ध्यान अवस्था से निकल जाने पर अत्यंत कष्ट का अनुभव करता है, तो वह अभी तक *स्थिरम्* अर्थात् स्थिर नहीं है। इसे स्थिर करने के लिए, व्यक्ति को बार-बार मन को आत्मा में वापस लाने और उसे अपने वास्तविक स्वरूप में स्थापित करने की आध्यात्मिक साधना करनी होगी। इसे कहते हैं *अभ्यास-योग*।

मामिच्छामुं धनञ्जय। यह कदाचित इस श्लोक का मुख्य वाक्यांश है। भगवद्गीता के किसी और श्लोक में भगवान ने ये नहीं कहा कि 'मुझे पाने की तीव्र इच्छा करो।' पहले हमें कहा गया था कि इच्छाओं का त्याग करो। परंतु भगवान यहाँ कहते हैं मुझे पाने की तीव्र इच्छा करो। इसका क्या अर्थ हुआ? ध्यान करने के लिए किसी-न-किसी ईंधन की आवश्यकता होती है, और हमारे पास केवल इच्छा रूपी ईंधन है। यहाँ भगवान हमें दिखा रहे हैं कि इस ईंधन को अपने आध्यात्मिक विकास के लिए कैसे उपयोग में लाया जाए।

हे धनञ्जय! यह महत्वपूर्ण है कि भगवान यहाँ अर्जुन को धनञ्जय कहकर संबोधित कर रहे हैं—जो व्यक्ति निरंतर धन-संपत्ति अर्जित करने में लगा रहता है। धन प्राप्ति की अत्यधिक महत्वाकांक्षा रखने वाला व्यक्ति अपनी इच्छा शक्ति का प्रयोग करता है और प्रायः इसके लिए तीव्र गति से काम करता है। वह अधिक से अधिक धन कमाने के तरीके और साधन खोजता रहता है। इसी तरह,

जब हमारे अंदर ईश्वर को पाने की तीव्र इच्छा होती है, तो सभी शुभ चीजें उसके पीछे-पीछे आती हैं। निस्संदेह, जीवनमुक्त वह है जिसने सभी इच्छाओं को त्याग दिया है। लेकिन यह चरम अवस्था है। तथापि यहाँ भगवान एक साधक के बारे में बोल रहे हैं।

वे कहते हैं, "ईश्वर-साक्षात्कार की इच्छा में सब कुछ भस्म कर दो। अपनी बाकी सारी इच्छाओं को ईश्वर-इच्छा रूपी अग्नि में समर्पित कर दो—**माम् इच्छासुं धनञ्जय**—हे धन को जीतने वाले! मुझे प्राप्त करने की इच्छा करो। अब से केवल मुझे ही अपना धन मानो। अब से केवल एक ही जय तुम्हारा लक्ष्य हो, और वो है ईश्वर की प्राप्ति।" इस श्लोक का यही रहस्य है। प्रभु के लिए असीम इच्छा रखें। वास्तव में यह उपाय, अपनी इच्छाओं को त्याग कर देने की तुलना में कहीं अधिक सुलभ है—परमेश्वर के प्रति अपनी जो इच्छा रूपी अग्नि है, उसमें घी डालते रहो, ताकि वह जंगल की आग की तरह भड़क उठे और सभी सांसारिक इच्छाओं को भस्म कर दे। यह परम मंगल की ओर ले जाएगा।

यदि हमें आरंभ से ही यह कहा जाए कि कोई इच्छा मत करो, तो उचित आधार या लक्ष्य के अभाव में हमारी इच्छाएं तिल के दानों की तरह बिखर जाती हैं। वे सभी इंद्रियों और बुद्धि के माध्यम से शरीर और मन में फैल जाती हैं। परिणामस्वरूप, वे मन को कष्ट देती हैं। इसलिए उपदेश यही है कि सभी इच्छाओं को एकत्रित करके उन्हें इस उच्च लक्ष्य की ओर मोड़ दो। अपने आप से कहो, 'मेरे पास जीने के लिए बस इतना ही समय बचा है। हर दिन मेरी जीवन अवधि कम होती जा रही है। मृत्यु से पहले मुझे समाधि अवस्था प्राप्त करनी ही है—**समाधातुं**। मुझे आत्मा के प्रति स्थिर जागरूकता प्राप्त करनी ही है।' यह साधना के प्रारंभिक अवस्था में अनिवार्य है। अपनी तीव्र इच्छा को आत्मा पर टिकाओ। दूसरे अध्याय में इसी का विस्तार से वर्णन किया गया है—**व्यवसायात्मिका बुद्धि**। आम बोलचाल में, 'व्यवसाय' शब्द का प्रयोग किसी ऐसे व्यक्ति के लिए किया जाता है जो मेहनती हो। ध्यान में भी यही शक्ति काम में लानी चाहिए। जब कोई साधक किसी ज्ञानी महात्मा से मिलता है तो यह स्वाभाविक रूप से होता है; साधक की आंतरिक शक्ति जागृत हो जाती है। ऐसा लगता है जैसे महात्मा की अवस्था ही साधक का लक्ष्य बन जाती है और साधक का पूरा जीवन उसे पाने के लिए समर्पित हो जाता है। भगवान ने ऐसे भक्तों को **मत्परः** कहकर संबोधित किया है। यही वो ईंधन है जो हमारे **अभ्यास-योग** को ऊर्जावान बनाएगा।

आसुं इच्छा—केवल तीव्र इच्छा होने पर ही हम निरंतर अभ्यास कर सकेंगे। एक बार जब यह लक्ष्य हमारे जीवन में आ जाता है, तो ऐसा लगता है कि हमारा जीवन पवित्र हो गया है। अब से आगे, जीवन का सारा समय केवल मन को शांत करके आत्मा में स्थित करने के लिए समर्पित है। धीरे-धीरे ऐसा व्यक्ति एक सच्चे भक्त और प्रबुद्ध संत के रूप में विकसित होगा।

१२.१०

**अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥**

यदि तुम उपर्युक्त अभ्यास में असमर्थ हो, तो केवल मेरे लिए कर्म करने के परायण हो जाओ। मेरे लिए कर्मों को करते हुए तुम पूर्णता को प्राप्त हो जाओगे।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव

यहाँ भगवान करुणापूर्वक, साधक के स्तर पर उतर आकर आध्यात्मिक अभ्यास को सरल बना रहे हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं "हे अर्जुन, यदि तुम ध्यान नहीं कर पा रहे हो, तो मेरे लिए कर्म करो—**मत्कर्मपरमो भव**।"

अण्णामलै स्वामी की यात्रा

हम यहां एक सुंदर वृत्तांत सुनाते हैं जो रमण महर्षि के शिष्यों में से एक, अण्णामलै के जीवन में, इस प्रक्रिया को उजागर करती है। अण्णामलै स्वामी पेशे से राजमिस्त्री थे। वे अपनी युवावस्था में स्वतंत्रता की लालसा महर्षि के पास आए थे। वे महर्षि से ज्ञान उपदेश पाकर ध्यानमग्न होकर रहना चाहते थे। इस आकांक्षा को लिए वे महर्षि के साथ रहने लगे। परंतु महर्षि ने उन्हें ध्यान करने का समय नहीं दिया। अपितु उन्हें आश्रम में चिनाई के काम की देखरेख करने के लिए कहा गया। वे इस काम में इतने व्यस्त हो गए कि उनके पास ध्यान आदि करने का कोई समय नहीं बचता था। परंतु महर्षि निरंतर उनका मार्गदर्शन करते रहे।

एक दिन उन्होंने महर्षि से कहा "भगवान, मैं ध्यान-मग्न रहना चाहता हूँ। कृपया मुझे पर्वत की किसी गुफा में जाकर ध्यान में बैठने की आज्ञा दें।" महर्षि मुस्कराते हुए बोले, "भविष्य के बारे में ऐसे कोई भी संकल्प मन में न रखो। मन को केवल आत्मा पर रखो। ऐसा मत सोचो कि तुम कर्ता हो। यही ध्यान है। अन्यथा, इस संकल्प को पूरा करने के लिए तुम्हें दूसरा जन्म लेना पड़ सकता है। अतः अभी, इसी स्थान पर, आत्मा ही बने रहो।" भगवान के आदेशानुसार, वे बिना विश्राम के काम करते रहे। एक दिन उन्होंने फिर महर्षि से पूछा, "भगवान, मैं यहाँ आपसे सर्वोच्च सत्य का श्रवण करने के लिए आया था। आप दूसरे लोगों को आत्मा के बारे में उपदेश देते हैं, परंतु जब भी मैं आपके पास आता हूँ, आप मुझसे केवल ईंट, चूने और भवन-निर्माण की ही बातें करते हैं। यह कितने खेद की बात है।" महर्षि हँस पड़े, और बोले, "क्या करें! जब भी तुम मेरी ओर आते हो, तो ऐसा लगता है कि एक भवन चला आ रहा है।"

वास्तव में अण्णामलै स्वामी के भीतर भवन-निर्माण का संस्कार था जिसका समाप्त होना आवश्यक था। अतः सोलह वर्षों तक उन्होंने अपने गुरु के आदेशानुसार निःस्वार्थ भाव से परिश्रम किया। एक दिन महर्षि ने उन्हें बुलाकर कहा "पलाकोत्त जाओ—आश्रम के पीछे जो वन है। अब तुम्हारे लिए कोई काम नहीं है। अब वहाँ जाकर रहो और निरंतर ध्यान में रहो। तुम्हें अब आश्रम आकर मुझे देखने की भी आवश्यकता नहीं। तुमसे मिलने मैं आऊँगा।" उन्होंने महर्षि से पूछा, "मैं वहाँ क्या करूँ?" महर्षि ने उत्तर दिया, "कुछ भी विशेष रूप से करने की आवश्यकता नहीं। जो भी करो, बस यह याद रखना कि तुम आत्मा हो। तुम शरीर नहीं हो। तुम आत्मा हो। बस यह सर्वदा याद रखना। यह बीज आत्मनिष्ठा के रूप में अंकुरित होगा।"

उनका कर्म समाप्त हो गया था। महर्षि कहते थे, "हर कर्म अपने गर्भ में अपने ही विनाश का बीज लिए आता है।" वास्तव में जब अण्णामलै स्वामी के कर्म समाप्त हुए, तब उनके एकांत में रहने की सारी व्यवस्था कर दी गई। वे अपने गुरु की आज्ञा का पालन करते हुए, पूर्णतः ध्यानमग्न ही रहे। मुझे ये संन्यासी अच्छी तरह याद हैं, जो सर्वदा आत्मा में लीन, जनता की दृष्टि से दूर रहा करते थे। यहाँ तक कि वे सड़क पर भी पैर नहीं रखते थे। सैर के लिए भी वे केवल पर्वत की ओर ही जाया करते थे। गुरु की आज्ञा का पालन ही उनके प्राण थे।

यहाँ हम देख सकते हैं कैसे कर्मों को ईश्वर-अर्पण की भावना से करने पर उच्चतम योग की प्राप्ति हो सकती है। ऐसा जीवन भगवान के शब्दों के सार को दर्शाता है—*"मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिम् अवाप्स्यसि"*—मेरे लिए कर्म करो, और तुम्हें परम मंगल प्राप्त होगा।"

मत्कर्म का अर्थ भक्ति-कार्यकलाप के रूप में भी लगाया जा सकता है। अपने आप को किसी-न-किसी प्रकार की दैवी कार्य में व्यस्त रखें। ईश्वर का नाम जपें, पुष्प एकत्र करके प्रभु को अर्पण करें; उनका अभिशेख करें; आरती दिखाएं। एक भी दिन ऐसा न निकले जब उनकी पूजा न हो। ये प्रभु के प्रति प्रेम को उजागर करने के लिए विशेष कर्म हैं। हर रात, सोने से पहले भगवान को आरती दिखाएं। अपनी प्रत्येक गतिविधि, प्रत्येक चलन को दिव्य बनाएँ। जो कुछ भी खोएं, वो भगवान का हो; जो कुछ पीएं, वो भगवान का हो; जो सांस लें, वो भगवान का हो—सब कुछ ईश्वर के दिव्य नाम के साथ मिल जाए। आपकी रगों में उसके दिव्य नाम से पवित्र हुआ रक्त बहे। ऐसे अपना सारा जीवन दिव्य बन जाए।

स्वामी चिदानन्द पण्डरपुर में

एक प्रेरणादायक कहानी है ऋषीकेश के स्वामी चिदानन्द-सरस्वती के बारे में। एक बार, अपने नियोग के चरम पर, अपने पहले विश्व-दौरे के तुरंत बाद, वे अचानक ऋषीकेश से गायब हो गए। दो साल तक कोई भी उनका पता नहीं लगा सका। दूसरे साल के अंत में उनके अनुयायियों को खबर मिली कि स्वामी जी महाराष्ट्र में कहीं हैं। उन्होंने खोज की, और पाया कि स्वामी पण्डरपुर के विह्वल मंदिर में झाड़ू लगाने का काम कर रहे थे और भगवान के सेवक की तरह रह रहे थे। वे रात में एक किराने की दुकान के बरामदे में सोते थे। कोई उन्हें दिन में एक बार खाना दे रहा था। इस तरह वे दो साल तक वहीं रहे! संत-महात्मा स्वयं को अहंकार से पूरी तरह मुक्त करने के लिए ऐसी साधना करते हैं।

सारे भक्ति सम्प्रदायों में देखा गया है कि भक्त मंदिरों अथवा आश्रमों के साथ जुड़े रहते थे। ध्यान में व्यतीत किये गये समय के अतिरिक्त वे अपना सारा समय और ऊर्जा मंदिर में किसी न किसी तरह सेवा करने में लगाते—फर्श साफ करना, फूल इकट्ठा करना, इत्यादि। यह सब करते हुए, वे लगातार भगवान का नाम जपते रहते। महान शिवभक्त अप्पर-स्वामी अपने साथ सर्वदा एक

झाड़ू लिए चला करते थे, और प्रायः ही उन्हें मंदिर के परिसर में पञ्चाक्षर का जप करते हुए, झाड़ू लगाते हुए देखा जाता था। ये सभी विशेष कर्म हैं जो व्यक्ति की श्रद्धा-भक्ति और ध्यान शक्ति को बढ़ाते हैं।

गिरि-प्रदक्षिणा का लाभ

प्रायः जो ध्यान हमें बैठे-बैठे नहीं आता, वह प्रदक्षिणा करते समय सहज ही खिल उठता है। यह घटना तिरुवन्नामलै में देखी जा सकती है। अरुणाचल की पवित्र पहाड़ी की परिक्रमा करना एक महान अभ्यास है जो आध्यात्मिक रूप से उन्नति प्रदान करता है। ऐसी प्रथाओं का कोई स्पष्ट तर्क नहीं है, लेकिन उनके प्रभावों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एक बार एक भक्त ने भगवान रमण महर्षि से गिरि-प्रदक्षिणा के लाभ के बारे में पूछा। महर्षि ने कहा, "तुम एक बार प्रदक्षिणा पर जाकर देखो, फिर मुझसे आकर बताना कि तुम्हारा अनुभव क्या था।" प्रदक्षिणा के पश्चात्, भक्त ने बताया कि से गहन शांति का अनुभव हुआ, और उसने कहा, "भगवान, जब मैं तीन या चार किलोमीटर चल चुका था, तब मुझ पर एक ध्यान जैसी स्थिति आ गई, और मैंने शरीर का बोध खो दिया।" हाँ, यही है इसका प्रभाव।

यदि हम हमारे सारे कर्म बिना कर्तृत्व के करें, यह याद रखते हुए कि भगवान ही वास्तविक कर्ता हैं, तो हम कर्मों के बंधन में नहीं बंधेंगे—ये है **मत्कर्मकृत्**।

यदि व्यक्ति अपने प्रत्येक कार्य को ईश्वर समर्पण समेत करे तो वह आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करता है। समस्त आसक्तियाँ फलतः मिट जाती हैं। इस प्रकार निष्काम कर्मयोगी ही सबसे बड़ा भक्त है; अथवा परम भक्त ही सच्चा कर्मयोगी है। यदि हम ध्यान करने या मन को नियंत्रित करने में असमर्थ हों, तो भी हमें अपने कर्तव्यों में संलग्न रहना चाहिए और उसे अपनी पूजा बना लेनी चाहिए; हमें सदैव भगवान का स्मरण करना चाहिए और उनका नाम जपना चाहिए, जिससे हमारे जीवन में दिव्य तत्व का प्रवेश हो। यही है सिद्धि, यही पूर्णता, यही ईश्वर-साक्षात्कार प्राप्त करने का तरीका।

१२.११

**अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥**

यदि तुम उपर्युक्त भी करने में असमर्थ हो, तो मुझ में शरण लो, आत्म-नियंत्रण से कर्म करो, और सारे कर्मों के फल का त्याग करो।

इस श्लोक में, भगवान **मद्योगम्-आश्रितः** पद का प्रयोग करते हैं। **मद्योगम्** का अर्थ है 'मेरा योग'। भगवान जिस योग को अपना बताते हैं, वह 'भक्ति योग' है—अपना सब कुछ भगवान को समर्पित करना। भगवान आगे कहते हैं, "**एतत् अपि कर्तुं अशक्तः असि**—यदि इतना भी करने में तुम असमर्थ हो, यदि तुम में सब कुछ भगवान को समर्पित करने की मानसिक शक्ति नहीं है, तो **सर्व-कर्म-फल-त्यागं ततः कुरु यतात्मवान्**—कर्म करने के पश्चात्, यद्यपि वह फल की इच्छा के साथ किया गया हो, कर्म के फल को अपने पूरे हृदय से मुझे अर्पण कर दो।" यह महा-योग है, जो यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है, क्योंकि अहंकार हमारे सारे कर्मों के पीछे छिपकर उनका संचालन करता है, और यही अहंकार कर्मों के फल में भी वास करता है।

अहंकार इच्छाओं से बना होता है। **इच्छाएं का संबंध कर्मों के साथ नहीं, अपितु कर्म-फल के साथ होती हैं।** संसारी मनुष्य केवल फल पाने की इच्छा से कर्म करते हैं। उन्हें काम में शायद ही रुचि होती है। यदि काम से छुट्टी दी जाए, तो वे खुशी-खुशी भाग जाएंगे। उनका काम केवल वेतन के लिए ही होता है। यहाँ भगवान कहते हैं, "कर्म का फल पूरी तरह मुझे अर्पण कर दो अर्जुन।" यद्यपि देखने में तो यह सुलभ उपदेश लगता है, परंतु इसका वास्तविक अर्थ है 'स्वयं को पूरी तरह से मुझे दे दो'। परिणामतः व्यक्ति के व्यक्तित्व में पूर्ण बदलाव आ जाता है, जीवन में उसका दृष्टिकोण का पूरी तरह पलट जाता है। यह केवल तब हो सकता है जब व्यक्ति को पूर्ण विश्वास हो जाता है कि केवल ईश्वर ही वास्तविक हैं; अहंकार-‘मैं’ सत्य नहीं है। इसीलिए भगवान ने कहा, "**मां इच्छामुं**—मुझे प्राप्त करने की तीव्र इच्छा करो।"

यह प्रभु का उपदेश है, "चाहे जीवन में जो कुछ भी करो, जो भी कमाओ, उसे चलने दो; परंतु इतना याद रखो कि केवल ईश्वर ही सत्य है, और कुछ भी नहीं। केवल प्रभु ही रहेंगे; बाकी सब कुछ छोड़ कर चला जाएगा। इस सत्य को याद रखो, और कर्म करने के पश्चात, उसका परिणाम चाहे जो कुछ भी हो, उसे प्रभु को अर्पण कर दो।"

कर्म-फल-त्याग के बारे में भगवान कहते हैं, "**यतात्मवान्**—आत्मनियंत्रण अथवा संयम के साथ।" अहंकार सदैव कर्म-फलों का स्वाद चखना चाहता है। वह सदैव संसार से कुछ-न-कुछ पाना चाहता है। अहंकार को नियंत्रण में कैसे रखें, उसकी इच्छा के विरोध में कैसे जाएं, कर्म-फल ईश्वर को अर्पित करके उसका त्याग कैसे करें, यह सीखना अत्यावश्यक है।

किसान-महात्मा

कई भक्तों ने इस उपदेशानुसार अपना जीवन व्यतीत किया है। हमारे गाँव में एक महात्मा रहते थे। वे अपने घर में अकेले निवास करते थे। निरंतर भगवन्नाम का जप करते हुए, अपना खाना स्वयं पकाते हुए, वे किसी व्यक्ति पर किसी कारण निर्भर नहीं थे। उनका अधिकांश समय पास के केले-के-बागीचे में, पौधों की देखरेख में कड़ी मेहनत करके बीतता था। वे प्रतिदिन एक कुएँ से पानी खींच कर पौधों की सिंचाई करते थे। जब केले पक जाते, तो वे उन्हें एकत्र करके गाँव वासियों और मंदिर में बांट देते थे। फसल सब लोगों के साथ साझा होता था, अतः स्वभाविक रूप से, गाँव के लोग निःशुक्ल केले पाकर प्रसन्न थे। ऐसा कई वर्षों तक चला।

एक साल, हमेशा की तरह, किसान को बागीचे में मेहनत करते देखा गया। एक दिन हममें से कुछ बच्चों ने देखा कि केले के पेड़ों पर कोई केले नहीं थे, परंतु हम बच्चों ने कोई फल भी नहीं पाया था। महात्मा ने किसी को इसका कारण नहीं बताया। निस्संदेह हमें पता था कि वे केलों को बेचते नहीं थे। जब ऐसा कई बार हुआ, हमने उन्हें पूछा कि फलों का क्या हुआ। उन्होंने सहजता से उत्तर दिया कि कोई केले ले गया। जब हमने पूछा कि क्या केले चोरी हो गये, तो उन्होंने उत्तर दिया, "आप इसे चोरी कह सकते हैं, परंतु मैं ऐसा नहीं कहूँगा। मेरे लिए यह मेहनत काम नहीं, पूजा है। मैं आप सब के घर केले लाता हूँ; आपको केले चाहिए भी न हों, लेकिन आप इन्हे स्वीकार करते हैं, क्योंकि मैं इन्हें प्रेम से देता हूँ। मैंने कभी-कभी उन्हें पड़े-पड़े सड़ते हुए भी देखा है। परंतु अब, भगवान स्वयं किसी रूप में आकर फल ले जाते हैं। मैं प्रसन्न हूँ कि कोई इनका लाभ पा रहा है। इसलिए, अब मैं और अधिक उत्साह के साथ काम करता हूँ। इसके अलावा, भगवान ने मेरा काम और आसान कर दिया है—मुझे अब इन्हे आपके घरों तक लाना नहीं पड़ता, और फिर इन्हे बाँटना नहीं पड़ता। भगवान अपने करुणावश किसी रूप में रात को आकर इन्हें ले जाते हैं।" हम ये बातें सुनकर आश्चर्यचकित हो गए। हमें लगा कि वो चोर भी सोचता होगा कि इस किसान ने कभी उस चोर को रोकने का प्रयास क्यों नहीं किया, और कभी चोरी के बारे में पूछताछ भी नहीं की। यह **कर्म-फल-त्याग** का उदाहरण है। **अक्षरशः** फल-त्याग!

तमिल संत

कई ऐसे वृत्तांत हैं, जिनमें भक्तों ने अपने कर्म-फल का एक हिस्सा ईश्वर को दे दिया। महान तमिल संतों में, एक कुम्हार हुआ करते थे। मिट्टी के बर्तन बनाना और बेचना उनकी आजीविका थी। उनकी भक्ति की एक अभिव्यक्ति यह थी कि जब भी वे बर्तनों का एक खेप बनाते, तो सबसे पहले पहले कुछ बर्तन वे भगवान के भक्तों को अर्पित करते। बर्तन बनाने के बाद, वे संतों को ढूंढने जाते, और परम विनम्रता के साथ उनके सामने नतमस्तक होकर उन्हें बर्तन अर्पित करते। वे इस कार्य को इतनी भक्ति के साथ करते कि एक बार स्वयं ईश्वर एक संन्यासी के रूप में प्रकट हुए। ईश्वर ने उनसे बर्तन प्राप्त करके उन्हें दिव्य दृष्टि का आशीर्वाद दिया। एक और भक्त दर्जी थे। उनके पास स्वयं ईश्वर एक संत के रूप में, अपनी लंगोटी रफू करवाने के लिए आए। परिणामतः भक्त को परम दिव्य अनुभव का आशीर्वाद मिला।

नूट्रोण्डु-गुफा के संत

एक सुदूर गाँव में स्थित एक आश्रम में यह भाष्य लिखा जा रहा है। इस गाँव से कुछ ही मील की दूरी पर नूट्रोण्डु नामक एक गुफा है, जिसका अर्थ है एक-सौ-एक। कुछ साल पहले तक, वहाँ एक संत रहा करते थे। अपनी दैनिक आध्यात्मिक क्रियाकलाप के अतिरिक्त वे कई लोगों को खाना खिलाते थे। वे स्वयं गरीब थे; अतः उनके द्वारा दिया हुआ खाना रागी (महुआ) के अनाज से बना हुआ साधारण भोजन था। वे हर दिन एक-सौ लोगों को ईश्वर का ही रूप मानकर उन्हें भोजन कराते थे। उन्होंने बहुत समय तक यह कार्य किया। कहा जाता है कि एक दिन स्वयं ईश्वर एक-सौ-एकवें मनुष्य के रूप में आए। उन्होंने भोजन ग्रहण किया और संत

को दर्शन दिया। इसलिए उपयुक्त है कि इस जगह का नाम नूट्रोण्डु रखा गया है, अर्थात् एक-सौ-एक। आज भी इस स्थान पर दिव्य तत्व का अनुभव होता।

ये सभी उदाहरण हमें अपने स्वधर्म को आध्यात्मिक अभ्यास में परिवर्तित करने की प्रेरणा देते हैं। बेशक, केवल एक उपासक जो ईश्वर का ध्यान करता है, भगवन्नाम का जप करता है और जिसका दिव्य तत्व के साथ संबंध है, केवल वही अपने कर्मों को पूजा में बदल कर सकता है। ईश्वर को कर्म का यह समर्पण ही 'कर्म-योग' कहलाता है। यह कोई बुद्धिरहित मशीनी अभ्यास नहीं है जो किसी नास्तिक द्वारा किया जा सके। यह केवल एक भक्त के लिए संभव है, क्योंकि कर्म ईश्वर को अर्पण होता है। यह अभ्यास व्यक्ति को गहन ध्यान की ओर ले जाने में सहायक सिद्ध होता है।

श्रीमद्भागवद् का निम्नलिखित अति-सुंदर श्लोक इस प्रकार के यज्ञ की गहनता को दर्शाता है।

यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः।

तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते॥ श्री.भा. ११.११.४१

इस संसार में जो कुछ भी तुम्हें सबसे प्रिय है और जिसमें तुम सबसे अधिक प्रसन्न होते हो, वह तुम मुझे अर्पित कर दो। तब तुम हृदय में अनंत हो जाओगे।

अपने सबसे प्रिय वस्तु को ईश्वर को अर्पित करने से उसी क्षण हमारा मन शुद्ध हो जाता है और उच्चतम आध्यात्मिक अनुभव हमारे हृदय में खिलता है।

१२.१२

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्धानं विशिष्यते।

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

ज्ञान उस अभ्यास से अधिक श्रेष्ठ है जो बिना मर्म को जाने हुए किया गया है; सम्यक ज्ञान से ध्यान परिपूर्ण हो जाता है; परिपूर्ण ध्यान कर्मफल त्याग की ओर ले जाता है; और त्याग से तत्काल ही परम शांति प्राप्त होती है।

इस श्लोक का मुख्य वाक्यांश है, 'शांति त्याग का फल है—**त्यागात् शान्तिः अनन्तरं**'।¹³ "केवल त्याग से ही अमृतत्व प्राप्त होता है।" त्याग आध्यात्मिक जीवन का हृदय है। त्याग सदा विवेक, वैराग्य, शम (मन पर नियंत्रण) और दम (इंद्रियों पर नियंत्रण) पर खड़ा होता है। सारे दिव्य गुण त्याग में स्थित होते हैं। महात्मा कवि भर्तृहरि गाते हैं "**धन्यस्तु सन्न्यस्यति—धन्य है त्याग करने वाला।**"

शांति ही आत्मसाक्षात्कार है। जब पूर्ण त्याग होता है, तो आत्मा तत्काल प्रकाशित हो उठती है। मन कर्तृत्व और भोक्तृत्व के रूप में भविष्य की ओर भागता है, और कर्मफल की इच्छा करता है। कर्मफल की इच्छा साक्षात्कार के पथ पर बाधा है। ज्ञान, ध्यान और त्याग से मन शुद्ध होता है और हृदय में शांति खिलती है। अहंकार का त्याग ही सबसे बड़ा त्याग है। जिस क्षण अहंकार का त्याग होता है, उसी क्षण मन दीपक की भांति बुझ जाता है, और केवल आत्मा का ही अस्तित्व रह जाता है; केवल *निर्वाण*। एक बार जब व्यक्ति पूरी तरह से निःस्वार्थ हो जाता है, तो उसके लिए शांति स्वाभाविक हो जाती है।

यहाँ भगवान इस विषय का चरण-दर-चरण उपसंहार करते हैं। **अभ्यास, ज्ञान, ध्यान, कर्मफल-त्याग, शांति**—यह क्रम है उन्नति का। पहले हमें यह जानना होगा कि आनंद कर्मफल में नहीं होता। आनंद तो आत्मा का स्वरूप है। यह ज्ञान बहुत बड़ा लाभ है जिसके बिना मन कर्मफल की लालसा से मुक्त नहीं हो सकता।

श्रेयो हि ज्ञानं अभ्यासात्—ज्ञान वास्तव में अचेतन अभ्यास से अधिक श्रेष्ठ है। यहाँ अभ्यास का अर्थ है मर्म को बिना समझे, केवल स्वभाव के कारण किया गया कर्म जो ज्ञान से प्रेरित नहीं होता। इसका तात्पर्य अनुष्ठान या काम्य-कर्म आदि से हो सकता है, या बिना सम्यक ज्ञान के की गई साधना से भी हो सकती है। ज्ञान के बिना कर्म, कर्म-योग में परिवर्तित नहीं हो सकता।

यह केवल सत्य को समझकर उसपर मनन करने से ही संभव है। जब ज्ञान पर्याप्त मजबूत होता है, तो हमसे स्वभावतः ही **कर्मफल-त्याग** हो जाता है।

इस ज्ञान की अच्छी समझ के बिना, तथा संतों के संपर्क के बिना, बुद्धि आश्वस्त नहीं होती कि स्वार्थ त्यागने में ही लाभ है। शरीर की प्रत्येक कोशिका अहंकार से निर्मित है, जिनमें से स्वार्थ की बदबू आती है। ऐसे व्यक्ति के लिए, किसी चीज को पाने के प्रलोभन का विरोध करना अत्यंत कठिन है। आध्यात्मिक-मूल्यों पर पर्याप्त चिंतन के बिना, कर्मफल-त्याग आमतौर पर एक आदर्श मात्र बनकर रह जाता है। त्याग के महान विचार को हमारे भीतर समाहित होकर हमारे शरीर और मन का हिस्सा बनना होगा।

हम कई आध्यात्मिक संस्थाओं में कर्मफल-त्याग के आदर्श की व्यावहारिक विफलता देख सकते हैं। एक संत संस्था की स्थापना करते हैं और वे अपने सभी अनुयायियों के लिए बिना किसी प्रेरणा या इच्छा के सभी की सेवा करने का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। परंतु जब व्यवहार का समय आता है, तब मन का स्वार्थ एक ही क्षण में आदर्श को पछाड़ देता है। आध्यात्मिक जीवन में हमें यही दुःखद विफलता देखने को मिलती है—आदर्श और हमारी निर्बलता के बीच की दूरी। इस निर्बलता पर विजय पाने के लिए ही भगवान ध्यान पर जोर देते हैं।

श्रेयो हि ज्ञानं अभ्यासात् ज्ञानात् ध्यानं—यहाँ अभ्यास का तात्पर्य कर्म-मात्र से है। फिर हम आदर्श पर आते हैं—कर्मयोग का ज्ञान। मनन और ध्यान से व्यक्ति के भीतर ज्ञान समाहित होता है और ज्ञान की शक्ति बढ़ती है। वहीं दूसरी ओर ध्यान सम्यक ज्ञान से परिपूर्ण हो उठता है।

एक आदर्श और उसका अनुप्रयोग

दैनिक जीवन में 'मैं' और त्याग-के-आदर्श के बीच, टकराव के कई उदाहरण मिलते हैं। भीड़ भरी बस या अन्य सार्वजनिक परिवहन में यात्रा करते समय यह एक सामान्य अनुभव है। आराम से बैठे हुए व्यक्ति की दृष्टि पास में बड़ी कठिनाई से खड़े किसी बुजुर्ग पर पड़ती है। यद्यपि मन का एक हिस्सा उन्हें सीट देना चाहता है, परंतु शरीर इसका विरोध करता है, और मन बड़बड़ाता है 'उन्हें मत देखो। कहीं और देखो।' बुद्धि भी अहंकार का समर्थन करती है। वास्तव में मन और बुद्धि दोनों अहंकार के सेवक हैं। वे आराम से खुश रहने के बहाने सुझाते हैं। 'उठने की क्या आवश्यकता है? यदि तुम उठोगे, तो कदाचित् कोई और व्यक्ति सीट पकड़ लेगा, और उन बुजुर्ग को लाभ नहीं होगा,' अथवा 'अगर वे वृद्ध अगले पड़ाव पर उतर गए तो फिर क्या होगा? फिर तुम्हें खड़े-खड़े एक घण्टे तक यात्रा करनी पड़ेगी।' ये सभी अहंकार के बहुत अच्छे समर्थक हैं। यदि आप त्याग करने में असफल होकर सीट उन बुजुर्ग को न दें, तो निस्संदेह आप आराम से रहेंगे। संभवतः आपको कुछ खुशी तो मिलेगी, परंतु आप शांति खो देते हैं। यदि आप संवेदनशील व्यक्ति हैं, तो संभवतः आपको उस रात अच्छी नींद नहीं आएगी। परंतु उठकर अपनी सीट किसी और को देने के लिए व्यक्ति को आरामदायक जीवन जीने की शारीरिक इच्छा का विरोध करना होगा, और उस पर विजय प्राप्त करनी होगी। ऐसी निस्वार्थता के लिए गहन मनन अथवा **ध्यान** की आवश्यकता है; यह **त्याग** की ओर ले जाता है, और त्याग **शांति** की ओर।

अब हम श्लोक की व्याख्या ध्यान के दृष्टिकोण से करते हैं, जैसा कि छठे अध्याय में बताया गया है। अभ्यास का तात्पर्य किसी ऐसी आध्यात्मिक साधना से है जो इंद्रियों में भटकते हुए मन को वापस खींचकर आत्मा में स्थापित करता है। ऐसा करने से पहले, अभ्यास की स्पष्ट समझ होनी चाहिए—उस केंद्र के बारे में जानकारी होनी चाहिए जिसमें मन को विश्राम दिया जा सके। **कुछ साधक उपनिषदों के वेदांत-विज्ञान को यह कहते हुए तुकरा देते हैं कि उन्हें सिद्धांत में रुचि नहीं है और वे केवल अभ्यास करना चाहते हैं। परंतु वास्तविक ज्ञान के बिना, आंतरिक केन्द्र के प्रति जागरूकता के बिना, साधक कैसे अपने अभ्यास का निर्देशन करें? उसका आध्यात्मिक अभ्यास और ध्यान जीवंत नहीं होगा। केवल एक गुरु से दीक्षित साधक ही वास्तव में ध्यान कर सकता है। अपने वास्तविक स्वरूप, आत्मा की ओर झांकने की प्रेरणा देना ही दीक्षा है।** इसके पश्चात् दीक्षित को समझ आता है कि मन को कहाँ स्थापित करें। हमें उपनिषदों और गीता द्वारा प्रतिपादित आत्मज्ञान किसी प्रामाणिक गुरु से ग्रहण करना चाहिए। ज्ञान किसी जड़-क्रिया से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। ज्ञान अभ्यास को शुद्ध करता है और उसे बेहतर बनाता है।

शस्त्रों और ऋषियों ने जो कहा है, उसे समझना हमारे लिए अनिवार्य है। भगवान ने पहले १२.८ में कहा **"मय्येव मन आधत्स्व—ईश्वर में मन लगाकर।"** यही **अभ्यास** है। **"मयि बुद्धिं निवेशय—उन्हें बुद्धि द्वारा जानना, आश्वस्त होना।"** यही ज्ञान है। दोनों ही महत्वपूर्ण हैं। अधिकांश साधकों के लिए ये दोनों अकाट्य पूर्वपिक्षाएं हैं। अपवाद वे लोग हैं जिन्होंने पिछले जन्म में ही यह प्रक्रिया पूरी कर ली है। अतः संकीर्ण सोच के बजाय, हमें ऋषियों के उपदेशों को स्वीकार करना चाहिए। हम चाहे जिस भी साधना के पथ

पर चलें, उसके अभ्यास के साथ-साथ यह भी अपनाना आवश्यक है। सभी महान भक्तों ने भागवत और गीता जैसे शास्त्रों का गहन अध्ययन किया है। यहां तक कि परमानंद में रमती हुई मीराबाई ने भी अपने एक गीत में कहा, "गीता भागवत वाचूंगी।"

कई लोगों ने ज्ञानात्-ध्यान की व्याख्या में कहा है कि ध्यान ज्ञान से अधिक प्रभावी है। यद्यपि ऐसा प्रतीत हो सकता है कि ज्ञान और ध्यान अलग-अलग हैं, परंतु ऐसा नहीं है। ज्ञानात् का अर्थ यहाँ 'ज्ञान की तुलना में' नहीं, अपितु 'ज्ञान के माध्यम से' है। यहाँ संस्कृत व्याकरण की पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग तृतीया विभक्ति के रूप में किया गया है—ज्ञानेन, जिसका अर्थ है 'ज्ञान से'। **ज्ञानात् ध्यानं विशिष्यते**—ज्ञान की शक्ति से ध्यान उत्कृष्ट और प्रभावकारी हो जाता है, तथा ज्ञान भी ध्यान के माध्यम से शक्तिशाली हो जाता है। ध्यान वास्तविक तभी होता है जब व्यक्ति को यह ज्ञान हो कि किस पर ध्यान किया जाए। यह **ज्ञानात्-ध्यानं** की उपयुक्त व्याख्या है।

ज्ञानात् ध्यानं विशिष्यते—आत्मज्ञान के साथ, साधक में ध्यान आध्यात्मिक रूप से जीवंत हो जाता है। ध्यान विशिष्ट हो जाता है, अर्थात् ध्यान करने वाले के साथ गहन रूप से मिल जाता है। ऐसे ध्यान का फल अहंकार का मिट जाना है, जो कि वास्तविक कर्म-फल-त्याग है। सारे कर्म तथा कर्मफल की लालसा अहंकार के क्षेत्र में ही होते हैं। **अविद्या-काम-कर्म**—अर्थात् अज्ञान-इच्छा-कर्म, यही कर्म करने का क्रम है। इस क्रम को केवल ध्यान के गहनतम स्तर—समाधि में ही अभिभूत किया जा सकता है। इसी बात को **ध्यानात् कर्मफल त्यागः** के रूप में प्रकट किया गया है।

ऐसा व्यक्ति **जीवनमुक्त** है। वह पूर्ण संन्यासी है। ऐसे व्यक्ति की ये महानता है कि स्वयं भगवान कहते हैं, "वह मुझे सबसे अधिक प्रिय है; मैं उससे अलग नहीं हूँ—**ज्ञानी तु अत्मैव मे मतं**" (गीता श्लोक ७.१८)। इस अध्याय में ज्ञानी को भक्त भी कहा गया है। भगवान कहते हैं, "वह मुझे सर्वाधिक प्रिय है—**प्रियतमः**।"

१२.१३ - १४

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।

निर्ममो निरहङ्कारः सम दुःखसुखः क्षमी ॥

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

जो किसी से विद्वेष नहीं करता, सब के प्रति मित्रवत और करुणामय है, जो "मैं और मेरा" के भाव से मुक्त है, सुख और दुःख में भी संयम रखता है, क्षमावान है, वह योगी जो सदा ध्यान में स्थित, संतुष्ट है, आत्मसंयमी और दृढ़ निश्चय युक्त है, जिसके मन और बुद्धि मुझमें स्थित हैं, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

"स मे प्रियः—वह मुझे प्रिय है"। ये वचन स्वयं भगवान श्रीकृष्ण के हैं। वे कहते हैं "मैं इस पुण्यात्मा से प्रेम करता हूँ।" कहते हैं कि भगवान अपने भक्तों के भक्त हैं—**भक्त-भक्तिमान**। इन दो श्लोकों में भगवान ने अपने सच्चे भक्त के अनेक दिव्य गुणों का वर्णन किया है। इन सभी गुणों को सूचिबद्ध करने के पश्चात् भगवान कहते हैं "जो इन गुणों से सम्पन्न है, वो मेरा प्रिय है—**स मे प्रियः**।" यह वाक्य एक अद्भुत सत्य की ओर संकेत करता है। जिस अनंत तत्व को ईश्वर कहते हैं, जो जीवन का आधार है—वह सदैव उस व्यक्ति से प्रेम करता है जो पूर्णतः निरहंकार है।

भगवान ने पहले ही कहा है कि जो भक्त उनके शरण में है, उसके कल्याण का भार स्वयं ईश्वर उठाते हैं—**योगक्षेमं वहाम्यहं**। इस प्रकार भगवान अपने भक्त के प्रति प्रेम व्यक्त करते हैं। जब व्यक्ति ईश्वर में स्थित है, और उसे अपने जीवन की कोई चिंता नहीं, तो स्वयं ईश्वर उसकी देखभाल करते हैं। इस बात पर जोर देने के लिए ही वे प्रत्येक श्लोक में बार-बार कहते हैं **"स मे प्रियः**—वो मुझे प्यारा है!"

भगवान का कुचेल के प्रति प्रेम

अपने भक्त के प्रति भगवान को कितना प्रेम है, हम इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। श्रीमद्भागवत में एक कथा है, कुचेल नामक श्रीकृष्ण के सखा और परम भक्त की। जब यह दरिद्र ब्राह्मण श्रीकृष्ण से मिलने द्वारका गए, तब भगवान स्वयं अपने भक्त के पास

दौड़ कर आए और उसे गले लगा लिया। द्वारका वासियों ने आश्चर्यचकित होकर देखा कि उनके प्रिय कृष्ण की आँखों में आनंद के आँसू थे। उन्होंने देखा कि श्रीकृष्ण के पूरे शरीर पर आनंद के मारे रोंगटे खड़े थे। तब तक किसी ने उनकी आँखों में आँसू नहीं देखे थे, परंतु कुचेल को देखकर उन्होंने आँसू बहाए। प्रभु ने अपने भक्त का आलिंगन किया, भक्त के पैर धोए और उस पाद-प्रक्षालन के जल को अपने और रुक्मिणी-देवी के सिर पर छिड़का, और कहा, "आज, द्वारका शुद्ध हो गई, क्योंकि एक सच्चा भक्त यहाँ आया है। ये मेरा सखा है; मेरा प्रिय है; ब्रह्मऋषि है। मैं अत्यंत आनंदित हूँ।" कुचेल का आदर सत्कार करने के पश्चात् श्रीकृष्ण ने उनको आसन पर बिठा कर उनके पैर दबाए। देखिए स्वयं भगवान की भक्ति! इसलिए उन्हें ब्रह्मण्यदेव कहते हैं—सच्चे ब्राह्मण से प्रेम करने वाला।

अब उन सारे गुणों को देखते हैं जिनका वर्णन इस श्लोक में किया गया है, जो एक भक्त को भगवान का प्रिय बनाते हैं।

अद्वेष—द्वेष का अभाव

हम वहाँ रहते हैं जहाँ हमारे विचार होते हैं। मन में द्वेष रखना, यहीं नरक में रहने के समान है। सच्चा भक्त किसी से द्वेष नहीं रखता—**अद्वेष सर्वभूतानां**। यदि कोई उसे कष्ट भी पहुँचाए, तो भी वह उसके प्रति कोई दुर्भावना नहीं रखता। उसका मन किसी से भी विद्वेष करने में असमर्थ है, क्योंकि उसने यह ज्ञान ग्रहण कर लिया है कि सभी लोग केवल आत्मा ही हैं।

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ ई.उप. ६

जो सब प्राणियों को आत्मा में देखता है, और आत्मा को सब प्राणियों में देखता है—उस दृष्टि के कारण उसे किसी से घृणा नहीं होती।

ऐसा भक्त द्वेष से परे है क्योंकि उसका हृदय प्रेम से भरपूर है; उस हृदय ने प्रेम के मूल स्रोत—आत्मा को स्पर्श कर लिया है। सारा प्रेम, सारा आनंद केवल आत्मा से उत्पन्न होता है। आत्मा प्रेम की निधि है। अतः द्वेष, घृणा आदि भावनाएँ भक्त के लिए असंभव हैं। उपनिषद् मंत्र कहता है, "न विजुगुप्सते—वह अब और घृणा नहीं करता।"

एक और सुंदर अर्थ ये है कि वह स्वयं की रक्षा करने का प्रयत्न नहीं करता। *जुगुप्सा* का अर्थ है सुरक्षा की भावना या स्वयं की रक्षा करने की इच्छा। हम यह दैनिक जीवन में देख सकते हैं। समाज में, हम प्रायः लोगों के साथ एक प्रकार के संदेह के साथ व्यवहार करते हैं, यद्यपि इसका कोई कारण नहीं होता—कि क्या वे हमारे एकांत में आ धसेंगे; क्या उनका कोई स्वार्थी उद्देश्य है; क्या वे हमारा शोषण करेंगे, इत्यादि। *ज्ञानी* को किसी के बारे में ऐसे कोई संदेह नहीं हैं। वह सबको ब्रह्म के रूप में पहचानता है, और किसी के व्यवहार या चरित्र के बारे में चिंतित नहीं है। वह किसी दूसरे के शरीर या मन को नहीं देखते; सबको केवल ब्रह्म के रूप में ही देखते हैं। अवास्तविक संसार के पीछे छिपे हुए सत्य पर आधारित एक सर्वोच्च विश्वास उसके अन्दर पनपता है।

जब भक्त प्रेम से ईश्वर का ध्यान करता है, तब उसका हृदय और भी ऊँचे भाव के स्तर पर चला जाता है। इसे *प्रेम-समाधि* कहते हैं। उस भाव में तनिक भी क्रोध असंभव है। ऐसा व्यक्ति कैसे क्रोधित हो अथवा घृणा करे? *भक्ति* भाव अति कोमल है; साधक के हृदय में एक शिशु की भांति। साधक उसकी रक्षा वैसे ही करता है जैसे किसी शिशु की रक्षा की जाती है। किसी भी कठोर शब्द या भावना के लिए उनमें कोई स्थान नहीं है।

हमारे भीतर यदि लेशमात्र भी द्वेष हो, यदि हमारे हृदय में तनिक भी दुर्भावना हो, तो हमें शांति प्राप्त नहीं होगी। द्वेष शब्द में 'द्वि' का तात्पर्य द्वैत से है। जब तक द्वैत भावना उपस्थित है, दुर्भावना उत्पन्न हो सकती है। **अद्वेष** शब्द में *अ-द्वय* अर्थात् अद्वैत का स्वर छिपा है—कोई पृथक् नहीं, कोई विभाजन नहीं। जब अद्वैत अनुभव होता है, तो द्वेष की संभावना नहीं होती। अतः उपनिषद् कहते हैं, "किसी से द्वेष न करो। सब में एक ही आत्मा देखो। जब सारा जगत् तुम ही हो, तो किसी से द्वेष कैसा? क्या तुम आईने में अपना प्रतिबिंब देखकर उससे द्वेष कर सकते हो?" जब सभी अपने ही प्रतिबिंब हों, तो किसी से भी घृणा या द्वेष कैसे संभव है?

मैत्री भाव—स्वामी रामतीर्थ अमरीका में

स्वामी रामतीर्थ, एक ज्ञानी महात्मा, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिमालय के टिहरी प्रांत में सवतंत्र संचार करते थे। उनके कुछ भक्तों ने उन्हें अपनी शिक्षा का प्रसार करने के लिए विदेश यात्रा करने के लिए मजबूर किया। इसलिए वे जापान तथा अमरीका गए। उन्होंने विदेश यात्रा में अपने पास एक पैसा भी नहीं रखा! ये आत्मा की स्वतंत्रता है। हम इस काल में ऐसी स्थिति की कल्पना भी नहीं कर सकते।

जब वे सॉन-फ्रांसिस्को पहुँचे, और जहाज़ से उतरने का समय आया, तो एक अमरीकी ने उनसे पूछा, "आप कहाँ से हैं?"

स्वामी जी ने उत्तर दिया, "सारा विश्व राम का है।" (स्वामी जी स्वयं को राम कहकर संबोधित करते थे।)

उस उत्तर से मोहित होकर अमरीकी के फिर पूछा, "क्या आपके पास कोई सामान नहीं है?"

"नहीं! राम केवल उतना ही रखता है जितने की उसे आवश्यकता हो", उन्होंने एक छोटी सी झोली दिखा कर कहा।

"क्या आपके पास कोई पैसे नहीं हैं?"

"राम कभी पैसे नहीं रखता।"

"फिर तो आपके यहाँ मित्र होंगे। आप कहाँ रहने वाले हैं?"

मधुर मुस्कान के साथ स्वामी रामतीर्थ ने तुरंत कहा, "तुम मेरे मित्र हो!"

यह अमरीकी आगे जाकर स्वामी जी का महान भक्त हुआ।

यह मैत्री भाव का, ज्ञानी के मित्रता का परम उदाहरण है। जब आप हर कहीं केवल आत्मा को देखते हैं, जहाँ भी जाओ, केवल मित्रों को मिलते हैं; अपनी अंतरात्मा को हर जगह मिलते हैं।

भागवत में एक मधुर श्लोक है, जिसमें भगवान-कपिल कहते हैं,

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।

अर्हयेद्यानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा॥

श्री.भा. ३.२९.२७

स्वार्थ-केन्द्रित जीवन की पृथक्ता पर विजय प्राप्त करके तथा सभी प्राणियों को मित्र मानकर, उपहार, सम्मान और प्रेम के साथ उनकी सेवा करनी चाहिए, यह समझते हुए कि ऐसी सेवा वास्तव में मेरी की जा रही है, जो सभी प्राणियों में उनके अन्तरतम स्वरूप में निवास करता है।

इस भागवत श्लोक में 'मैत्र्या अभिन्नेन चक्षुषा' वाक्यांश का प्रयोग किया गया है। मैत्री भाव—अर्थात् मित्रता अथवा समदर्शिता मन की एक सुंदर अवस्था है। जब मैत्री भाव होता है, तो व्यक्ति दूसरे को स्वयं के रूप में देखता है। ऐसे संबंध में एक प्रकार की सुलभता होती है। व्यक्ति दूसरे के व्यवहार, कर्म या चरित्र को नहीं देखता। व्यक्ति दूसरे के बारे में बुरा कहता या सोचता भी नहीं। वह उन्हें स्वयं के रूप में देखता है। ऐसा भाव तभी संभव है जब अन्य के साथ कोई प्रेरित व्यवहार न हो। यदि हम दूसरे से कोई अपेक्षा रखते हैं—जैसे उनसे कोई काम करवाना या उन्हें किसी तरह नियंत्रित करना—तो मैत्री भाव संभव नहीं। यदि हम किसी से कुछ चाहते हों—चाहे वह किसी प्रकार की सहायता हो या उनके चरित्र या व्यवहार में कोई परिवर्तन—और यदि हमारा मनचाही इच्छा पूरी न हो, तो स्वाभाविक रूप से हम उनसे दूर हो जाते हैं। जब हमें श्रुति वाक्य पर पूर्ण श्रद्धा होती है कि सभी केवल आत्मा ही हैं, सभी ईश्वर ही हैं—वासुदेव सर्व—और जब हम किसी से कुछ नहीं चाहते, तब, और केवल तभी मैत्री-भाव संभव है। भक्त में एक प्रकार का सम-भाव उत्पन्न हो जाता है, और वह सभी का मित्र हो जाता है। ऐसे कई महात्मा थे जिनके लिए अलगाव या विभाजन का विचार पूरी तरह मिट गया था। लोग स्वामी शिवानंद के सुनहरे हृदय के बारे में मजाकिया टिप्पणी करते थे कि यदि उन्हें जंगल में भी डाल दिया जाए तो वे वहाँ के जानवरों से दोस्ती कर लेंगे!

सर्वभूतसुहृच्छान्तो ज्ञानविज्ञाननिश्चयः।

पश्यन् मदात्मकं विश्वं न विपद्येत वै पुनः॥

श्री.भा. ११.७.२

ऐसा व्यक्ति स्वाभाविक ही सभी प्राणियों का मित्र होता है—सर्व-भूत-सुहृत्। यह मित्रता दिव्य होती है। संपूर्ण विश्व को ईश्वर अथवा आत्मा के रूप में देखकर, व्यक्ति स्वयं को चोट नहीं पहुँचाता। अन्य को देखकर राग-द्वेष उत्पन्न होता है; जिसके कारण हम स्वयं को ही चोट पहुँचाते हैं, और शांति असंभव हो जाती है। जब हम सारे विश्व को आत्मा के रूप में देखते हैं, तो शांति का राज्य स्थापित हो जाता है।

बौद्ध ग्रंथों में, बुद्ध को मैत्रेय नाम से भी जाना जाता है—सबका मित्र। ईश्वर सर्वभूतसुहृत् हैं—सबके मित्र, और ज्ञानी भी सबका मित्र है। उसके भाव में पूर्ण समानता होती है—श्रेष्ठ या निम्न की धारणा अब काम नहीं करती।

मैत्री भाव — श्रीराम का उदाहरण

मैत्री भाव का उत्कृष्ट उदाहरण श्रीराम में देखा जा सकता है। रावण के भाई विभीषण ने उनके पास अचानक ही आकर कहा "मैं आपका मित्र हूँ।" श्रीराम ने विभीषण को गले लगाकर उन्हें अपना लिया। जब राम के परिषद के सभी लोगों ने विभीषण के नीयत पर संदेह किया, तो राम ने कहा¹⁴, "मैं उसका परित्याग नहीं करूंगा। यदि कोई व्यक्ति मेरे पास आकर कहे कि, 'मैं आपका मित्र हूँ' तो मैं उसे अवश्य स्वीकार करूंगा, भले ही उसमें कितने भी दोष हों।" यह ऋषियों का उत्तम मार्ग है।

इस मैत्री-भाव में लोक संबंधों की सारी जटिलताएँ मिट जाती हैं। यह ऐसी अवस्था है जहाँ व्यक्ति बहुत हल्केपन के साथ बातचीत करने और जीवन जीने में सक्षम होता है। भक्त मधुमक्खी की तरह है। वह जहाँ भी जाता है, जिससे भी मिलता है, वह उस संबंध से केवल आत्मानुभूति की मधु का ही पान करता है। वह कभी भी अपने व्यक्तित्व का भार दूसरों पर नहीं डालता। वह इतने धीरे से आकर बैठता है कि उसके अस्तित्व का कोई बाहरी प्रभाव नहीं दीखता। परंतु उससे जो शांति की लहरें उमड़ कर आती हैं, वह सभी को आनंद में घेर लेती है। यही कारण है कि भगवान-शंकराचार्य कहते हैं कि ऐसा केवल संन्यासी के लिए ही संभव है। यहाँ संन्यासी का तात्पर्य केवल साधु या भिक्षु से नहीं, अपितु पूर्ण त्यागी से है, जिसकी कोई इच्छा नहीं है, जो ज्ञानी है।

सच्चे मित्र में एक दुर्लभ सौंदर्य होता है—जब उसकी जरूरत होती है, तो वह एक समर्पित मित्र होता है, और अन्य समय, वह अलग-थलग रहता है। ईश्वर भी ऐसे ही हैं। वे लगातार हमारा ध्यान आकर्षित करके हमें परेशान नहीं करते। वे तब आते हैं जब उनकी आवश्यकता होती है। हमें भी यह ईश्वर से सीखना होगा—किसी पर अपना भार न डालना। हम अंतरिक्ष की तरह बनें—उसका अस्तित्व तो है, परन्तु हमें उसका आभास नहीं होता; और जब भी कुछ होना है, वह अंतरिक्ष में ही होता है।

गुरु सदा सच्चा मित्र है। यहाँ हम देखते हैं कि अर्जुन को श्रीकृष्ण एक मित्र के समान उपदेश दे रहे हैं, गुरु के समान नहीं। ऐसे ही, भागवत में उद्धव को उपदेश देते हुए, भगवान उन्हें 'सखे' कहकर पुकारते हैं, न कि शिष्य। दिव्य तत्व एक मित्र की भांति उस व्यक्ति के साथ चलता है जिसने अपने भीतर सत्य को ढूँढ़ लिया है। यह अदृश्य मित्र सभी मानवों में उपस्थित है। एक बार हम उसे पहचान लें तो हमें समझ आता है कि वह हमारा सबसे प्रिय मित्र है। शास्त्र तथा आध्यात्मिक साधना वो भाषाएँ हैं जिनके प्रयोग से हम इस अमोघ मार्गदर्शक के साथ संवाद कर सकते हैं।

करुणा

करुणा एव च। करुणा भक्त का स्वभाव ही है। यह ज्ञानोदय के प्रथम लक्षणों में से एक है। करुणा ईश्वर का शरीर है। जब हृदय खुल जाता है, तब मन और बुद्धि का महत्व नहीं होता। जब हृदय खिल जाता है, तो करुणा स्वाभाविक अवस्था है। श्रीमद्भागवत में कहते हैं,

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।

प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥ श्री.भा. ११.२.४६

सच्चे भक्त को भगवान के प्रति भक्ति, और दूसरे भक्तों के प्रति मैत्री भाव होता है। तथा जो प्राणी आध्यात्मिक जीवन के बारे में अज्ञात होने के कारण पीड़ित हैं, उन प्राणियों के प्रति करुणा होती है।

करुणा ज्ञानी की वह स्थिति है जिसमें वह किसी को भी अपने से अन्य नहीं देखता। जब ज्ञानी स्वयं को अन्य में देखता है, वह दृष्टि ही करुणा कहलाती है। ज्ञानी अनेक जन्मों के मार्ग पर चलकर आया है, जिसके माध्यम से उसने जीवन के सभी उतार-चढ़ाव देखे हैं। अतः वही किसी के स्वभाव या कर्मों को लेकर उनकी आलोचना नहीं करता। वह सबसे निर्बल व्यक्ति की निर्बलता को समझता है। अतः वह कभी किसी में दोष नहीं ढूँढ़ता। यहाँ तक कि आध्यात्मिक रूप से पतित व्यक्ति या सबके द्वारा घृणित व्यक्ति के प्रति भी वह केवल करुणा ही रखता है। यह लक्षण केवल ईश्वर में या जीवनमुक्तों में देखा जा सकता है।

निर्ममो निरहङ्कारः—'मैं' और 'मेरा' का अभाव

'मैं' और 'मेरा' का अभाव—यह एक और महत्वपूर्ण लक्षण है—**निर्ममो निरहङ्कारः**। 'मैं' और 'मेरा', ये दोनों ही अज्ञान के लक्षण हैं। वेदांत में जिसे अध्यास अथवा अध्यारोपण कहते हैं, वह इनका कारण है। जब शरीर को आत्मा पर अध्यारोपित किया जाता है, तो

शरीर 'मैं' बन जाता है। जब अन्य वस्तुएँ आत्मा पर अध्यारोपित की जाती हैं, तो वे 'मेरा' बन जाते हैं। भगवान शंकराचार्य इस विषय की चर्चा ब्रह्मसूत्र-भाष्य के आरंभिक भाग में करते हैं¹⁵। 'मैं ये हूँ (शरीर-मन)', 'ये मेरा है'—ऐसी मान्यताएँ नैसर्गिक (आनुवंशिक, प्राकृतिक, प्रकृति-उन्मुख) हैं। ये आत्मा पर अनात्मा के लक्षणों के अध्यारोपण, तथा अनात्मा पर आत्मा के लक्षणों के अध्यारोपण के परिणाम हैं। भ्रम के कारण उत्पन्न हुए इस संज्ञानात्मक व्याधि को केवल निरंतर आत्मा में स्थित होकर ही मिटाया जा सकता है¹⁶। निरंतर आत्मा में स्थित होने का अर्थ है बिना किसी अनात्म-वस्तु के, अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित रहना। इस स्थिति में व्यक्ति विचारों से बाधित नहीं होता—जब संपूर्ण ध्यान केवल शुद्ध चित् अथवा जागरूकता पर ही है। ऐसे निरंतर आत्मस्थित होकर, 'मैं' और 'मेरा' का पूर्णतः त्याग करना आवश्यक है। यही वास्तविक त्याग है। त्याग से व्यक्ति को इस भ्रम से मुक्ति मिलती है कि वह शरीर है, और व्यक्ति उन सभी वस्तुओं की चिंता और तनाव से मुक्त हो जाता है जो वह स्वयं नहीं हैं।

अहं का अर्थ है 'मैं'; कार का तात्पर्य कर्तृत्व से है। जब मानसिक धरातल पर प्राण की ऊर्जा 'मैं' के रूप में बार-बार फूट निकलती है, तो इसे अहंकार कहते हैं। योगी के लिए, यह बहुत बड़ी समस्या है। जितना अधिक वह आत्मा के प्रति जागरूक होता है, उतना ही अधिक वह 'मैं' और 'मेरा' का प्रयोग न करने की महानतम कला सीखता है; वह अपने 'मैं' से दूर चलता जाता है। मानो व्यक्ति सड़क पर पड़े कूड़े से दूर हट कर चल रहा हो; वह उसके निकट भी नहीं जाना चाहता। वैसे ही, यद्यपि आप अपने भीतर अपना अभिमान देखते हैं, आपको यह एक नकारात्मक ऊर्जा के रूप में दिखता है, और आप जानते हैं कि जिस क्षण आप इसे छूँगे, यह असंख्य विचारों के रूप में आपके मन में फूट पड़ेगा। अतः आप उस तामसिक ऊर्जा से दूर हट जाते हैं। ध्यान करने वाले के भीतर यह सामर्थ्य उत्पन्न होता है; तथा, ज्ञान की चरम स्थिति में, यह ऊर्जा आंतरिक अंतरिक्ष में विलीन हो जाती है, और केवल आत्मा ही प्रकाशित होती है। फिर न तो अहंकार रहता है, न मेरापन।

जब अहंकार व्यक्तियों अथवा वस्तुओं के प्रति होता है, तो वह मेरेपन का रूप लेता है। 'मैं' और 'मेरा' अहंकार की दो शाखाएँ हैं जो हमें कष्ट देती हैं। सच्चा भक्त कभी किसी वस्तु को अपना नहीं मानता; यहाँ तक कि अपने परिवार, धन-सम्पत्ति या अपने शरीर को भी नहीं—सब कुछ ईश्वर का ही मानता है। अतः उसमें कोई मेरापन नहीं होता।

दूर से देखने में पर्वत, वृक्ष, विशाल समुद्र और मेघ अति उत्साहवर्द्धक होते हैं। परंतु जब हम उसी पर्वत पर जमीन का एक छोटा सा टुकड़ा खरीदते हैं, तो हम उसके प्रति अधिकार जताने लगते हैं और उस पर स्वामित्व का दावा करने लगते हैं। ऐसी भावना से दृष्टि भ्रष्ट, और दिव्यता नष्ट होती है। जब मेरापन नहीं होता, तभी दृष्टि शुद्ध होती है। सब कुछ त्यागने से सब कुछ शुद्ध हो जाता है।

पवहारी बाबा और चोर की निवृत्ति

जब स्वामी विवेकानंद हिमालय में परिव्रजन कर रहे थे, तब वे एक तेजस्वी साधु से मिले। वार्तालाप के बीच में, स्वामीजी ने अपने गुरु श्रीरामकृष्ण के बारे में बताया और संत के गुरु के बारे में पूछा।

साधु ने पूछा, "क्या आपने गाजीपुर के पवहारी बाबा के बारे में सुना है?"

स्वामीजी: "हाँ, मैं उनके साथ रहा हूँ। वे बड़े महात्मा हैं।"

साधु: "उनके बारे में कोई वृत्तांत जानते हैं?"

स्वामीजी: "सुना है कि एक बार जब वे अपने आश्रम में ध्यान कर रहे थे, तब एक चोर ने बहुत सारी वस्तुएँ चुरा ली। जैसे ही वह सब कुछ समेट कर भागने लगा, बाबा ने आँखें खोलकर चोर को देखा। बाबा उस चोर के पीछे एक बर्तन में खाना लेकर दौड़ने लगे। बचकर भागने के चक्कर में चोर के हाथों से सब वस्तुएँ गिर गईं। बाबा सब कुछ उठाकर चोर के पीछे दौड़ते रहे। चोर थक गया और बाबा उस तक पहुँच गए। उन्होंने चोर को बिठाया और उसे खाना परोसा। उन्होंने उसे सारी वस्तुएँ भी लौटा दी। उन्होंने चोर से कहा 'आप नारायण हैं। आप तो परमात्मा ही हैं। मुझे देखकर क्यों घबराते हैं? आश्रम में जो कुछ भी है, सब आपका ही है। कृपया जो भी चाहिए, वो लीजिए। सब कुछ आपका ही है। आपको मुझसे अनुमति लेने की भी आवश्यकता नहीं है।' चोर ऐसे संत से मिलकर आश्चर्यचकित हो गया।"

जब स्वामीजी ने वृत्तांत सुना दिया, तब साधु ने हँस कर कहा, "स्वामीजी, क्या मैं आपको बताऊँ के उसके बाद क्या हुआ? संत की करुणा और मेरेपन-के-अभाव को देखकर चोर पूरी तरह से बदल गया।" साधु ने मुस्कुराते हुए कहा, "और वही आपके सामने बैठा है। मैं ही वह चोर हूँ।"

15 'अहमिदम् 'ममेदम्' इति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।

16 अध्यासोऽयं निरस्तव्यो विदुषा स्वात्मनिष्ठया। वि.सू.२६९

सहन, सहन, सहन

समदुःखः सुखः क्षमी । जीवन आनंद और पीड़ा, दोनों लाता है; सुख और दुःख। उन्हें निमंत्रण देने की कोई आवश्यकता नहीं; वे स्वयं आते हैं। जब कर्म फल देता है, ठीक उसी समय वे आते हैं। बिना पूछे ही आकाश से धन बरसता है, और वैसे ही दुःख भी बरसता है। यही जीवन है। हम इसके बारे में कुछ भी नहीं कर सकते; यह सब विधि का विधान है। हम बस इतना ही कर सकते हैं कि अपना संतुलन न खोएं। **क्षमा**—सहनशक्ति की बात है। बिना शिकायत के सहन करो। साधक को यह गुण अत्यंत सतर्कता के साथ विकसित करना चाहिए। जब तक व्यक्ति नियति द्वारा लाए दुखों को सहन करने में सक्षम नहीं होता, तब तक शांति बहुत दूर की बात है। सच्चा भक्त जानता है कि सब कुछ सहन करना भगवान का ही प्रसाद है, ईश्वर का अनुग्रह। सुख हो या दुःख, वह **सम-स्थिति** में रहता है।

हमने गीता में इतनी दूरी तय की है **सम-स्थिति** समझने के लिए। हमने गीता पढ़ना आरंभ किया अर्जुन के **विषम-स्थिति** से, और तब से लेकर अब तक भगवान यह समझा रहे हैं कि मन को शांति की स्थिति में, पूर्ण संतुलन में कैसे वापस लाएं। सुख हो या दुःख, भक्त बस सहन करता है। उसका धैर्य ही उसका दुर्ग है। कोई भी व्यवधान उसकी समर्पित **सम-स्थिति** को भेद कर उसकी शांति के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकता।

सदा संतुष्ट

संतुष्टः सततं योगी । भगवान कहते हैं कि योगी का पक्का लक्षण है कि वह सदैव प्रसन्न और संतुष्ट रहता है। हम एक ज्ञानी महात्मा को उनपर दिखाई देने वाली इस गहन संतुष्टि से पहचान सकते हैं। उनके हृदय में खिली इस संतुष्टि के कारण उनका चेहरा शांत दिखता है, उनकी प्रत्येक नस विश्राम कर रही होती हैं, उनके नेत्र मानो शांति के सागर हों, और पूरा शरीर गहन आराम की स्थिति में होता है—इन ही लक्षणों से हम योगी को पहचान सकते हैं।

सततं जिसका का अर्थ है सर्वदा—यह शब्द **संतुष्ट** और **योगी**, दोनों शब्दों के साथ जोड़ा जा सकता है। जो सदैव संतुष्ट रहता है और योग की अवस्था में रहता है—दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। केवल पूर्ण संतुष्टि होने पर ही मन आत्मा में स्थित रहता है। ऐसे भी कहा जा सकता है कि जब मन योग की स्थिति में, हृदय केंद्र में प्रवेश करता है, केवल तब वास्तविक संतुष्टि या वास्तविक विश्राम संभव है। दोनों एक ही हैं। जैसे हमने पहले भी देखा, श्री रमण महर्षि ने कहा है, 'दोष के निकल जाने पर संतोष होता है।' जब सम्यक ज्ञान से अपने वास्तविक स्वरूप का भ्रम मिट जाता है, तब मन आत्मा में विश्राम करता है। जब मन को विश्वास हो जाता है कि संतुष्टि ही उसका वास्तविक स्वरूप है, तो वह मतिभ्रम से ग्रस्त नहीं होता, और सचमुच केंद्रित हो जाता है।

भगवान रमण—सदा ब्रह्म

एक बार, भगवान रमण महर्षि के भक्त बलराम रेड्डी का इंटरव्यू हो रहा था। इंटरव्यू करने वाले ने पूछा, "आपकी दृष्टि में रमण महर्षि क्या थे?"

बलराम रेड्डी ने उत्तर दिया, "मेरे लिये वे सदा ब्रह्म ही थे।"

"इसका क्या मतलब है?"

"मतलब ये, कि मैंने उन्हें कभी ऐसी किसी स्थिति में नहीं पाया जिसमें वे ब्रह्म नहीं थे। वह सदैव वास्तविक सत्ता में केन्द्रित रहते थे। कोई व्यक्ति, किसी भी क्षण, उनमें अहंकार नहीं देख पाया, उनमें व्यक्तित्व नहीं देख पाया। हम जब भी उनके पास थे, हमें बस यही लगता था कि हम अनंत की सन्निधि में हैं।"

यह योगी का असली लक्षण है। ऐसा नहीं है कि वे केवल तभी संतुष्ट होते हैं जब सब कुछ उनकी इच्छा के अनुसार होता है। अपितु उनके साथ जो कुछ भी होता है, वे संतुष्ट ही रहते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं, ऐसा व्यक्ति सदैव योगी है—**सततं योगी** । भगवान भाष्यकार कहते हैं, "**योगी** का अर्थ है **समाहित-चित्तः**।" उसका मन शांत है। उसने सब कुछ पा लिया है। उसने सारी उथल-पुथल की सीमा को पार कर पूर्ण शांति प्राप्त की है। ऐसा व्यक्ति सदैव समाधि में होता है।

सन्तुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य यत्सुखम्।

कुतस्तत्कामलोभेन धावतोऽर्थेहया दिशः॥ श्री.भा.७.१५.१६

धन-सम्पत्ति के लोभ में, सांसारिक वस्तुओं और विषय-भोगों की इच्छा लिए इधर-उधर भागता व्यक्ति कैसे उस परम आनंद को पा सकता है, जो केवल उसी को प्राप्त है जो किसी कर्म में नहीं पड़ा है, सर्वदा आत्मा में रमता है, और सदा संतुष्ट है।

नृसिंह-भारती स्वामी—भीड़ में भी शांति

एक भक्त ने अपने अनीश्वरवादी मित्र को अपने साथ शृङ्गेरी मठ के मठाधिपति स्वामी के दर्शन करने के लिए निमंत्रित किया। उस समय स्वामीजी का पड़ाव तिरुनल्वेली के पास एक गांव में था। मित्र ने कहा, "मैं किसी संन्यासी को देखकर क्या करूँगा? मुझे इन स्वामियों पर कोई विश्वास नहीं।" भक्त ने कहा, "विश्वास की कोई आवश्यकता नहीं। बस मेरे साथ चलो।" ऐसे मनाकर, वे अपने मित्र को जबरदस्ती अपने साथ उस महान स्वामी, श्री नृसिंह भारती को देखने चले। जब उन्होंने पड़ाव के क्षेत्र में प्रवेश किया, वह मित्र वहां पारंपरिक पोशाक एवं धार्मिक वेषभूषा वाले लोगों की भीड़ को देखकर चिढ़ गया। वहाँ बहुत कोलाहल मचा हुआ था; कुछ लोग वेदमंत्रों का उच्चारण कर रहे थे, कुछ लोग ज़ोर-ज़ोर से बातें कर रहे थे, इत्यादि। यह देखकर अनीश्वरवादी मित्र ने कहा, "मैं चलता हूँ। मुझे इस भीड़ में नहीं घुसना।" भक्त ने विनती की, "जाने से पहले कम से कम एक बार तो स्वामी के दर्शन तो कर लो।" मित्र मान गया, "ठीक है, इतनी दूर आया हूँ, तो देख लेता हूँ।" वह लोगों के बीच से आगे बढ़ा और उस भीड़ के अंदर बैठे स्वामी पर उसने दृष्टी डाली। उस एक क्षण में, उसके शरीर में रोमांच की लहर दौड़ गयी। स्वामीजी धधकती हुई अग्नि के समान प्रज्वलित हो रहे थे, लेकिन उनकी आँखों में गहरी शांति थी, और उनसे आनंद झलक रहा था। उन महात्मा में ऐसी शांति थी कि मित्र स्तब्ध रह गया, "यह कैसी निश्चलता इस भीड़ के भीतर! ऐसा मौन! पूर्ण विश्राम! यह आश्चर्यजनक है कि भीड़ के बीचो-बीच कोई व्यक्ति ऐसा भी हो सकता है।" उस भेंट ने अनीश्वरवादी को पूरी तरह से ईश्वर के सच्चे साधक में बदल दिया।

ऐसा विश्राम केवल **संतुष्टि** से आता है। अधिकांश भक्त ऐसी संतुष्टि से ज्ञानी महात्मा को पहचानते हैं।

अनुशासन तथा दृढ़ विश्वास

यतात्मा—उसका प्रत्येक अंग, प्रत्येक इंद्रिय अनुशासित है, और व्यवस्थित ढंग से रखा गया है। दीर्घ काल तक की गयी तपस्या का फल प्राप्त हुआ है।

दृढ़-निश्चय—उनकी दिव्य महिमा का रहस्य है आत्मा के सत्य के बारे में उनका पूर्ण विश्वास। उनमें लेशमात्र भी संदेह नहीं रहता; उनका मन दृढ़तापूर्वक आत्मा में स्थित रहता है।

उनका हृदय मेरे साथ है और मेरा हृदय उनके साथ

मय्यर्पित-मनो-बुद्धि। हम पहले ही इस गुण पर विस्तार से चर्चा कर चुके हैं। उसका मन आत्मा में है; शांत और मौन। वहाँ एक दिव्य मनोदशा की, दिव्य प्रेम की बाढ़ आई है। उसकी बुद्धि दृढ़ है, जैसे पहले कहा जा चुका है। सारे शास्त्रविद्याओं के फल से वह परम शांति में स्थापित है।

भगवान कहते हैं, ऐसा व्यक्ति परम भक्त है। उसका हृदय निर्मल है। वह जहाँ भी रहता है, वो स्थान पवित्र हो जाता है; वहाँ की हवा शुद्ध हो जाती है। उसकी छोड़ी गई सांस वहाँ के अंतरिक्ष को शुद्ध कर देती है। उसका आसन पवित्र और पावन हो जाता है। उसके खाने के बाद बचा हुआ भोजन पवित्र *प्रसाद* बन जाता है, जो दूसरों को दीक्षा दे सकता है। "ऐसे महान भक्त अति दुर्लभ हैं, हे अर्जुन। वे जहाँ भी जाते हैं, मैं उनके पीछे जाता हूँ। मैं सदैव उनके साथ रहता हूँ। वे मुझे सबसे अधिक प्रिय हैं—**स मे प्रियः, स मे प्रियः।**"

निम्नलिखित श्रीमद्भागवत के सबसे सुंदर श्लोकों में से एक है, जो ईश्वर के हृदय की भावना को व्यक्त करता है।

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।

मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥ श्री.भा. ९.४.६८

भक्त मेरे हृदय हैं। मैं भक्तों का हृदय हूँ। मैं एकमात्र केंद्र, हृदय हूँ जहाँ मेरे भक्त स्थित हैं। मेरे भक्त को ऐसे पहचानो—वे मेरे अतिरिक्त कुछ नहीं जानते। और, मैं अपना रहस्य बताऊँ? मैं भी अपने भक्तों के अतिरिक्त किसी को नहीं जानता।

स मे प्रियः से इंगित होता है कि ज्ञानी ईश्वर से अलग नहीं है। क्योंकि ज्ञानी में कोई अहंकार नहीं होता, वह ईश्वर के साथ एक ही है। प्रेम का यही रहस्य है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षमर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥

वे, जो किसी को उद्विग्न नहीं करते, न ही किसी के द्वारा व्यथित होते हैं, जो जोश, चिड़चिड़ेपन, भय और चिंता से मुक्त हैं—ऐसे भक्त मुझे प्रिय हैं।

योगी का मात्र अस्तित्व ही जगत के लिए मंगलमय है। दुनिया में रहने वाले सभी लोग अच्छे या बुरे प्रकार की प्रकार की ऊर्जा लिए घूमते हैं। ये सुखद अथवा परेशान करने वाली ऊर्जाएँ तब तक चलती हैं जब तक व्यक्ति मन का प्रयोग करके संसार में काम करता है। मन के होने का अर्थ है कि उसके चारों ओर मानसिक तरंगें संचार करती हैं। परंतु योगी ऐसी स्थिति में है जहाँ मन ही नहीं। ऐसा भी कहा जा सकता है कि उसकी आत्मानुभूति उसके सभी विचारों पर विजय प्राप्त कर चुकी है। उसकी सांसें शांति की कोमल लहरें उत्पन्न करती हैं। यह ज्ञानी महात्मा की पहचान है, जो आत्मा में निवास करता है। भगवान यहाँ कहते हैं, "यस्मात् न उद्विजते लोकाः—किसी के लिए भी उससे किसी भी प्रकार की अशांति या परेशानी उत्पन्न नहीं हो सकती।" केवल ऐसे ही व्यक्ति के बारे में कहा जा सकता है कि 'वह किसी को हानि नहीं पहुँचा सकता।' अन्यथा, अनजाने में अपने विचारों और भावनाओं के माध्यम से अच्छे लोग भी दूसरों को हानि पहुँचाते हैं। सच्चे योगी में उद्वेग अथवा व्यग्रता नहीं होती। वह ऐसा केंद्र है जिससे गहन शांति की लहरें निकलती हैं।

महात्मा प्रायः पागलों या छोटे बच्चों के जैसे, अथवा भिखारियों के जैसे संसार में घूमते हैं। यह भी देखा जाता है कि संसार कभी-कभी उन्हें कष्ट देता है, पीड़ा देता है। परंतु जल्दी ही संसार को उनका महत्व समझ आ जाता है, क्योंकि लोग देखते हैं किसी वस्तु या व्यक्ति में उन्हें प्रभावित करने की शक्ति नहीं है; वे सदैव ही समाधि की शांतिपूर्ण स्थिति में रहते हैं—लोकान्नोद्विजते च यः।

अवंति ब्राह्मण का गीत

श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण उद्धव जी को एक वृत्तांत सुनाते हैं। ये घटना उस समय की है जब श्रीकृष्ण उज्जैन में महर्षि सांदीपनि के आश्रम में गुरुकुल वास करते थे। अवंति नामक गाँव में एक धनी ब्राह्मण रहता था। यद्यपि उसके पास अपार धन था, वह कभी सुखी नहीं था। उसने अपने धन को न ही किसी ज़रूरतमंद का भला करने में प्रयोग किया, न ही अपने संबंधियों की सहायता की। वह इतना कृपण था कि उसने स्वयं भी अपनी संपत्ति का आनंद नहीं लिया। अंततोगत्वा, कई कारणों वश, उसने सारा धन खो दिया। राज्य-कर्मचारियों ने कुछ कर के रूप में ले लिया, कुछ लुटेरों ने लूट लिया, और उसके सगे संबंधियों ने बाकी पर कब्जा कर लिया। जल्दी ही वह अपने घर से भी बाहर निकाला गया। वह कुछ समय तक एक दरिद्र भिखारी की तरह भटकता रहा। फिर उसके पिछले कुछ पुण्यकर्मों के फल स्वरूप, उसे साधु-संग प्राप्त हुआ। इसके परिणामस्वरूप उसे सत्य का साक्षात्कार हुआ, और पूर्ण शांति प्राप्त हुई। वह संन्यासी भिक्षु के रूप में परिव्रजन करने लगा और एक दिन अपने ही गाँव में पहुँचा। देखा गया कि ये तो वही कंजूस आदमी संन्यासी के वेश में आया है, और उसे कोई भिक्षा न देकर गाँववालों ने उसे गाँव से भगा दिया। कई युवा उसके प्रति घृणा के फलस्वरूप उसके साथ बुरा व्यवहार करते थे। संन्यासी के ध्यान करते समय, उन्होंने उसके सर पर मिट्टी फेंकी, और संन्यासी के पवित्र दंड और कमण्डल को तोड़ दिया। उन्होंने उसके शरीर पर मिट्टी फेंकी और यहाँ तक की उसके भोजन में मल-विसर्जन कर दिया। इन सभी घटनाओं के बीच में भी, संन्यासी शांत और अचल रहा। वह वहाँ से दूर, यह गीत गाता हुआ चल पड़ा।

नायं जनो मे सुखदुःखहेतु न देवतात्मा ग्रहकर्मकालाः।

मनः परं कारणमामनन्ति संसारचक्रं परिवर्तयेद्यत्॥

न मैं, न कोई देवता, न ही ये लोग मेरे सुख या दुःख के कारण हैं। ग्रह नक्षत्र, कर्म अथवा काल भी मेरे सुख अथवा व्यथा के कारण नहीं हैं। मन ही वह प्रमुख कारण है जिससे दुःख का यह चक्र घूमता ही रहता है। मैंने सत्य को जान कर मन का पूर्ण रूप से त्याग कर दिया है—मैं ही सब की आत्मा हूँ।

इस श्लोक का श्रद्धापूर्वक मनन सभी साधकों के लिये अत्यंत लाभदायक है।

यह कथा उस योगी की स्थिति को दर्शाती है जो सांसारिक वस्तुओं से प्रभावित नहीं होता। यह केवल इसलिए संभव है क्योंकि उसने विचारों को मन में न रखने की कला सीख ली है; वह मन के परे जा चुका है। उसने अपने भीतर शरण पा लिया है, जहाँ वह सर्वदा शांत रह सकता है। ऐसा व्यक्ति वास्तविक भक्त है।

हर्ष-अमर्ष-भय-उद्वेगः-मुक्तः—वह मन में होने वाली सभी द्वंद्वात्मक भावनाओं से मुक्त है। सामान्य लोग सदैव अपनी मनःस्थिति के उतार-चढ़ाव से प्रभावित होते रहते हैं। परंतु सच्चा भक्त ऐसे सारे उतार-चढ़ावों से मुक्त है। भक्त को जोश, चिड़चिड़ेपन, भय और चिंता आदि ने छोड़ दिया है। भगवान कहते हैं "ऐसा व्यक्ति मेरा भक्त है"।

अधिकांश व्याख्याताओं ने **हर्ष** का मतलब आनंद और **अमर्ष** का क्रोध बताया है। यहाँ हमने जानबूझकर जोश और चिड़चिड़ेपन का प्रयोग किया है। आनंद ज्ञानी का स्वरूप ही है। यदि कहो कि भक्त 'आनंद से रहित' है, तो यह वाक्यांश दुःख का बोध कराता है। अतः हमने, जोश का प्रयोग किया है, जो वास्तविक, निहित अर्थ बताता है। तथा, अमर्ष उसका विपरीत है—चिड़चिड़ापन। प्रायः यदि कोई अन्यायपूर्ण घटना घटती है और व्यक्ति उसे सहन नहीं कर पाता, तो उसमें चिड़चिड़ेपन की भावना उत्पन्न होती है। यह आक्रोश से उत्पन्न हुई भावना है।

उद्वेग किसी भी प्रकार की प्रबल प्रेरणा को कहते हैं जो हमें कार्य करने के लिए बाध्य करती है। उद् का अर्थ है उठना, और वेग का अर्थ है गति। यहाँ यह चित्त की तीव्र गति, अथवा मनोवेग को दर्शाता है। जब संसार हमें कुछ करने के लिए मजबूर करता है, तो हम प्रतिक्रिया करते हैं। जब तक दुनिया का हम पर प्रभाव है, तब तक योग का विकास नहीं हो सकता। सच्चा योगी दुनिया से प्रभावित नहीं होता। दुनिया जो कुछ भी उसके पास भेजती है, योगी उसे निगल कर पचा लेता है। हमने दूसरे अध्याय के श्लोक में देखा, 'जैसे नदियाँ समुद्र में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही सारे मानसिक उत्सर्जन, सारी भावनाएँ जो दुनिया के संवेदी संकेतों से उत्पन्न होते हैं, उन सब को योगी अपनी ज्ञान शक्ति के द्वारा निगल कर पचा लेता है।' इसका अर्थ है कि योगी में कोई उद्वेग नहीं है।

ऐसी समावस्था हमारे लिए तब तक असंभव है जब तक हम हमारे भीतर के उस केंद्र को नहीं ढूँढ लेते जो किसी से भी प्रभावित नहीं होता, जब तक हम ये नहीं जान लेते कि हम यह शरीर, मन या अहंकार नहीं हैं, कि हम शुद्ध चैतन्य हैं। जब मन सत्य के उस क्षेत्र में प्रवेश करता है, तो संसार एक मृगतृष्णा के समान अवास्तविक दिखता है। उसके पश्चात संसार की किसी भी शक्ति का हम पर कोई प्रभाव नहीं हो सकता।

१२.१६

अनपेक्ष शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।

सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

मेरा भक्त, जिसे कोई भी अपेक्षा नहीं है, जो शुद्ध और कौशलपूर्ण है, बेफिक्र है, परेशान नहीं है, और जिसने सभी नए प्रयासों को त्याग दिया है, वह मुझे अत्यंत प्रिय है।

अनपेक्षः—वह सभी इच्छाओं से मुक्त है। उसका मन किसी वस्तु, व्यक्ति या भावना के पीछे नहीं भागता। वह पूर्णता में रहता है, भले ही उसके पास कुछ न हो। श्रीमद्भागवत में स्वयं ईश्वर ऐसे भक्त के विषय में कहते हैं,

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेत्येति ह्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

वह मुनि जो कोई इच्छा नहीं रखता, जो सदा शांत है, किसी से बैर नहीं रखता, सबको सम दृष्टि से देखता है—मैं उसके पीछे-पीछे चलता हूँ ताकि मैं उसके चरणों की धूल से शुद्ध हो जाऊँ।

ज्ञानी की स्वतंत्रता

एक बार, रमण महर्षि के महा तपस्वी शिष्य काव्यकंठ-गणपति-मुनि ने महर्षि से कहा, "शरीर के निर्वाह के लिये तो बहुत थोड़ी चीजें, और बहुत कम पैसे ही लगते हैं।" महर्षि ने मुस्कुराते हुए कहा, "यदि तुम आत्मा को जान लो, तो बिना शरीर के भी रह सकते

हो।" ज्ञानी की यही स्थिति है। वह किसी भी चीज पर निर्भर नहीं होता, यहाँ तक कि शरीर, मन या अहंकार पर भी नहीं। उसे ईश्वर से भी कोई वस्तु मांगने की आवश्यकता नहीं। वह सत्य में, आत्मा में स्थित है, जहाँ कोई भी कमी नहीं है।

वह परम शुद्ध है—**शुचिः**। जिस क्षण आत्मा का ज्ञान हो जाता है, एक अनोखी पवित्रता उत्पन्न होती है, न भौतिक, न मानसिक। यह पवित्रता अखंड रहती है, चाहे शरीर या मन को भाग्य वश जो कुछ भी सहना पड़े। ऐसे कई योगी थे जो स्नान नहीं करते थे। तथापि, उनकी अंतर्निहित पवित्रता पतित व्यक्तियों को भी शुद्ध कर देती थी।

अपवित्रता के विषय में सारे विचार द्वैत भावना के कारण उत्पन्न होते हैं। जब यह ज्ञात हो जाता है कि सब कुछ आत्मा ही है, तब व्यक्ति को परम पवित्रता प्राप्त हो जाती है। *न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते* (भ.गी.४.३८)—ज्ञान से अधिक पवित्र करने वाला कुछ भी नहीं। अंदर के केन्द्र को स्पर्श करते ही, सभी अशुद्धियाँ एक ही बार में साफ हो जाती हैं। केवल आत्मा ही है; और कुछ भी नहीं है—यह ज्ञान, यह एकता ही वास्तव *शुचित्व* अर्थात् शुद्धता है। ज्ञानी सबसे शुद्ध है, और वही परम भक्त है।

शास्त्रों में साधक के शरीर और मन को प्रशिक्षित करने के उद्देश्य से, केवल प्रारम्भ में 'शुद्ध' को 'अशुद्ध' से अलग करने की सलाह दी गई है। परंतु, ये अविद्या की बातें हैं। यदि कोई व्यक्ति इस मूल तथ्य को समझे बिना शास्त्रों का गहन अध्ययन करता है, तो यह कट्टरता या पागलपन का कारण बन सकता है। अंततोगत्वा, व्यक्ति को द्वैतबुद्धि पार करने का रहस्य जानना अनिवार्य है। यह जानना अनिवार्य है कि कोई अशुद्धता है ही नहीं क्योंकि केवल ईश्वर ही हैं। इससे व्यक्ति को अपने अस्तित्व की गहन पवित्रता का आभास होता है।

दक्षः—जो अपने कार्यों से अप्रभावित रहने में निपुण है। वास्तविक *दाक्ष्यं* कर्तृत्व से निवृत्त होना है; यह वास्तविक कुशलता है, जिसके बारे में हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं (भ.गी.२.५०)। वह जो कर्तापिन और कर्मफल से प्रभावित न होने की कला में कुशल हो गया है, वही **दक्षः** है।

किसी भी आध्यात्मिक उपदेश को सम्यक, उपयुक्त रूप से, लागू करना, इसे *दाक्ष्यं* कहते हैं—आध्यात्मिक कुशलता। उदाहरण के रूप में, आयुर्वेद शास्त्र में कहते हैं कि दुनिया में ऐसा कोई पौधा या वस्तु नहीं है जो औषधीय नहीं है। यदि हम इस तथ्य को केवल शाब्दिक रूप से अपनाएँ, कोई भी पौधा उठा लें और उसे औषधि के रूप में प्रयोग करें, तो यह घातक भी हो सकता है। ऐसे ही, उपदेश को जीवन में लागू करने के लिए व्यक्ति में बुद्धि संतुलन और महान 'आध्यात्मिक कौशल' होना चाहिए। ऐसे व्यक्ति को भगवान यहाँ **दक्षः** कहते हैं।

कभी-कभी, प्रबल भावनाएं जो अन्यथा किसी को नीचे खींच सकती हैं, आध्यात्मिक जागरूकता को प्रज्वलित करने की प्रेरणा दे सकती हैं। हमने देखा कैसे अर्जुन का विषाद आध्यात्मिक जागरूकता में बदल गया। आध्यात्मिक जीवन की परिस्थितियों के साथ उपयुक्त तरीके से निपटने की कला सीखना जरूरी है। अपने भाग्य के क्षेत्र में उपलब्ध हर चीज का उपयोग अपने आध्यात्मिक अनुभव को पोषित करने की कला ही *दाक्ष्यं* है।

उदासीनः—सामान्यतः इस पद का अर्थ 'बेपरवाह' के रूप में लगाया जाता है। मानो दो लोगो आपस में विवाद कर रहे हैं, और यदि एक तीसरा व्यक्ति है जिसे इस विवाद से कोई लेना-देना नहीं, तो हम कह सकते हैं कि वह बेपरवाह है। परंतु, 'उद्' का अर्थ है ऊपर, और '*आसीनः*' का अर्थ है बैठा-हुआ। अतः, *उदासीनः* का अर्थ है वह जो उच्चतर जागरूकता में स्थापित है¹⁷। जिस क्षण हम उच्चतर जागरूकता में स्थापित हो जाते हैं, हम प्रकाश में आ जाते हैं, और फिर कोई अंधकार नहीं होता। आत्मा के प्रति जागरूक होने पर, संसार के सारे संघर्ष और शोर-शराबे हमारी जागरूकता से गायब हो जाते हैं, जैसे अंधेरा प्रकाश में गायब हो जाता है। ऐसा व्यक्ति **उदासीनः** कहलाता है।

परंतु यह भी सत्य है कि *साधना* के दौरान साधक में आध्यात्मिक उदासीनता की एक अवस्था उत्पन्न होती है। संसार की समस्त गतिविधियाँ, जिससे सांसारिक लोग अत्यधिक चिंतित रहते हैं, साधक उनके प्रति पूर्णतया उदासीन हो जाता है। ऐसे साधकों के लिए उपदेश है¹⁸ 'किसी समूह के साथ मत जुड़ो।' किसी के पक्ष में या विरोध में मत रहो। तुम यहाँ संसार से जूझने के लिए नहीं आए हो। तुम्हारा एकमात्र लक्ष्य ईश्वर ही हैं। तुम्हारी यात्रा अलग है।

जब लोग बकवाद करते हैं, तो वे एक पक्ष लेते हैं और दूसरे की आलोचना करते हैं। यह समय की सरासर बर्बादी है। साधक को सावधान रहकर ऐसे जगहों से दूर चले जाना चाहिए, और यदि उसे वहाँ रहना ही पड़े, तो घटनाओं में न उलझ कर, उदासीन रहना चाहिए।

17 हम इस पर १४.२३ में अधिक विस्तार से विचार करेंगे

18 न कश्चित् पक्षं समाश्रयेत्। श्री.भा.११.१८.३०

आध्यात्मिक जीवन में पतन

एक आश्रम में कई ब्रह्मचारी निवास करते थे। एक दिन दो ब्रह्मचारी क्रिकेट विश्व-कप का मैच देख रहे थे। मैच में कौन विजयी होगा, यह चर्चा गर्मागर्म बहस में बदल गयी। पास ही आश्रम के एक संत अपना जप कर रहे थे। वे वहाँ उदासीन बैठे रहे। ब्रह्मचारियों ने उनसे जाकर पूछा, "स्वामीजी, आपका क्या विचार है? कौन जीतेगा?" स्वामीजी मुस्कुराकर बोले, "चाहे जो कोई भी जीते, तुम दोनों आध्यात्मिक जीवन में हार गये!" यह उनका निष्कर्ष था। यहाँ यही सबक है। जिस विषय का अपने आंतरिक विकास से कोई लेना-देना नहीं, उस विषय में उदासीन रहो।

"अपने काम से काम रखो"

साधक का ध्यान केवल साधना और आध्यात्मिक अभ्यास पर होना चाहिए। कभी कभी, ज्ञानी महात्मा भी यह अवस्था साधक के लिए दर्शाते हैं। रमण महर्षि के कई भक्तों ने महर्षि में एक प्रकार की दैवीय उदासीनता देखी। उनके आस-पास जो कुछ भी होता था, वे चिंतित नहीं होते थे। परंतु इसका मतलब ये नहीं कि वे बेपर्वाह थे। वे आत्मा में स्थित थे, इस अवस्था में कोई संसार ही नहीं था। एक बार महर्षि के भक्त कुंजु-स्वामी ने इस विषय में महर्षि से कहा, "भगवान, आप के आसपास कई लोग गलत व्यवहार कर रहे हैं। आप उनसे फिर भी कुछ नहीं कहते। इस कारण उन्हें ऐसा लगता है कि आप उनके व्यवहार का समर्थन करते हैं। क्या ये ठीक है?" महर्षि ने अपने भक्त की ओर देखकर कहा, "मैं यहाँ किसी को सुधारने नहीं आया हूँ। सभी में कुछ न कुछ दोष हैं; यदि मैं सबको सुधारने लगा, फिर तो इस आश्रम के ऊपर से काला कौआ भी नहीं उड़ेगा।" उन्होंने फिर कहा, "जिस लक्ष्य के लिये तुमने सब कुछ त्याग दिया है, उसके बारे में चिंता करो। अपना ध्यान अंदर की ओर करो। पूछो, 'मैं कौन हूँ?' और आत्मा को पहचानो। केवल इसी लिए तुम यहाँ आए हो।" ये सदैव उनकी शिक्षा थी।

विश्व-युद्ध के दौरान, भक्तों ने देखा कि महर्षि उन घटनाओं के विषय में एक शब्द भी नहीं बोलते थे। ऐसा नहीं है कि उन्हें कोई परवाह ही नहीं थी। पहले बात, उनकी जागरूकता में कोई विश्व ही नहीं था। दूसरी बात, भले ही वे विश्व के अस्तित्व को स्वीकार कर लें, उसके बारे में चर्चा करके वे क्या प्राप्त कर लेते? ऐसे समय में 'गैर-जरूरी चीजों के प्रति उदासीनता' साधक के लिए एक मजबूत किले के जैसा होता है, जो साधक को सुरक्षित रखता है।

जब तक यह उदासीनता पूर्ण रूप से स्थित नहीं हो जाती, तब तक साधक का मन निरंतर घबराहट में रहता है। यह घबराहट व्यथा है। वह अपने मन में अतीत की घटनाओं या भविष्य के भय या चिंताओं का जंगल लेकर चलता है। इससे विषाद भी हो सकता है। कई साधक संसार का त्याग करके किसी आध्यात्मिक संस्था के साथ जुड़ जाते हैं। पर्याप्त समय उपलब्ध होने और कोई काम न होने के कारण, मन अवसाद का कोश बनाता है, अतीत के बारे में सोचता रहता है और भविष्य के बारे में सोचता रहता है—इसे *व्यथा* कहते हैं। ऐसी अवस्था में *जगन्मिथ्या*-औषधि के कुशल प्रयोग की आवश्यकता होती है—कि दुनिया वास्तविक नहीं है। यह कोई दर्शन-शास्त्र नहीं है; यह औषधि है जो सभी प्रकार के अनावश्यक तनाव से हमारी रक्षा करता है। किसी भी प्रकार की घबराहट अविद्या का निश्चित संकेत है। जिस भक्त ने भगवान को आत्मसमर्पण कर दिया हो, वह *गतव्यथः* है। **जब उनकी इच्छा के बिना घास का एक तिनका भी नहीं हिलता, तो व्यर्थ हम क्यों चिंता करें? सदा उनका ध्यान करो।** भगवान के सच्चे प्रेमी का यही मानना है।

सर्वारम्भ-परित्यागी—जो कोई नया काम शुरू नहीं करता। बुद्धिमान साधक शांत रहता है। जो कुछ भी उसके कर्म की धारा में आता है, वह उस कार्य को स्वीकार करके, उसे श्रद्धापूर्वक, आत्मसमर्पण के साथ करता है। वह कभी अपनी इच्छा या अनिच्छा के कारण, अपने दम पर कोई नया काम शुरू नहीं करता। ऐसा नहीं है कि उस भक्त के माध्यम से कोई नया विशेष कार्य नहीं होगा। जब ईश्वर-संकल्प होता है, गतिविधियों की महान धाराएँ ऐसे ज्ञानी के आसपास भी उत्पन्न होती हैं। ज्ञानी ईश्वर के हाथों में एक स्वेच्छापूर्ण साधन बन जाता है। उसका शरीर प्रभु की शक्ति के प्रवाह का माध्यम बन जाता है। वह इच्छा-उन्मुख क्रियाओं से मुक्त होता है।

भक्त सदा सहज ध्यानमग्न रहता है। यदि ईश्वरीय योजना उसे किसी कार्य में संलग्न करती है, तो वह उसे स्वीकार करेगा और उसे उत्तम रूप से पूरा करेगा। और यदि ईश्वर की शक्ति उसे उस कर्म से बाहर धकेलती है, तो भक्त यह भी स्वीकार करके बिना परेशान हुए, चला जाएगा। यह उसकी अवस्था है। वह स्वयं अपनी इच्छा से कुछ नहीं करेगा। सब कुछ ईश्वर का ही है। विष्णु सहस्रनाम (४९) कहता है, **"करणम् कारणम् कर्ता विकर्ता गहनो गुहः।"** ईश्वर ही काम करने का उपकरण हैं। वे कारण हैं। वे कर्ता भी हैं, और केवल वे ही बिगाड़ते भी हैं। वे ही कभी-कभी कर्म के क्षेत्र में गड़बड़ी पैदा करते हैं। केवल वे ही हैं जो कर्म की धारा को अचानक रोक देते हैं। सब कुछ उनका ही है। वे रहस्यमय हैं—*गुहः*। एक बार जब भक्त हर चेहरे के पीछे, और इस पूरी दुनिया के पीछे छिपे

अपने दिव्य प्रियतम को पहचान लेता है, तो वह सभी स्थितियों में अविचल रहता है। 'हर वस्तु और व्यक्ति के पीछे, वह एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान ही है। तो मैं क्यों किसी के बारे में चिंता करूँ?'—ये उसका दृष्टिकोण है। परिणामस्वरूप वह स्वाभाविक ही शांत हो जाता है। जो बुद्धि अब तक कर्तव्यों और कर्तृत्व के कारण विचलित हुई थी, वह एक महान विश्राम की अवस्था में पहुँच जाती है। बुद्धि के शांत होते ही, कारण और परिणाम की खोज भी गायब हो जाती है। केवल शांति ही होती है। श्रीकृष्ण कहते हैं, "ऐसा भक्त मुझे प्रिय है।"

१२.१७

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।

शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥

जिसे न तो उत्तेजना है न द्वेष, जो न शोक मनाता है न कोई आकांक्षा रखता है ; जिसने शुभ और अशुभ जैसी सोच का परित्याग कर दिया है, ऐसा भक्तिमान मुझे प्रिय है ।

भक्त का हृदय भगवान के पास होता है। वह सर्वदा भगवान के ध्यान में रहता है—**भक्तिमान**। भक्ति—यह प्रेम का भाव, निरंतर ध्यान है। जैसा कि हमने देखा है, भक्त का भान ईश्वर पर केंद्रित होता है ; वह सदैव दिव्य चेतना में रहता है। ऐसा व्यक्ति कभी किसी वस्तु को अच्छे या बुरे, अथवा शुभ या अशुभ की दृष्टि से नहीं देखता—**शुभाशुभ**। ज्ञानसंबंधर, तमिल-नाडु के महान शिव-भक्त ने कहा—*जब मेरे नाथ मेरे हृदय में हैं, तो सातों दिन और नौओं ग्रह अच्छे हैं, शुभ हैं*। यह भक्त का दृष्टिकोण है। उसके लिये कुछ ऊँचा या नीचा नहीं है—सब कुछ भगवान ही है। यह ज्ञान उसका बल है। अतः वह जानता है कि जो कुछ होना है वह ईश्वर के संकल्प से ही होगा।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि—जिसे न तो उत्तेजना है न द्वेष। हमारी मनचाही घटना होने पर हमें हर्ष होता है, और अवांछित घटना होने पर द्वेष। यदि मन चाहे कि कोई अप्रिय घटना न हो जाए, परंतु यदि वास्तव में कुछ अप्रिय घट जाए, तो हमारा पूरा अस्तित्व उसके विपरीत हो जाता है—इसे द्वेष कहते हैं। भक्त में हर्ष और द्वेष, ये दोनों ही नहीं होते। भक्त सब कुछ अपने अंदर समा लेता है—यह जानकर कि सब कुछ ईश्वरीय संकल्प से ही होता है।

न शोचति—वह शोक नहीं करता। शोक अप्रिय घटना के कारण होता है। भक्त यह जानता है कि घटनाएँ उसके प्रियतम की मधुर इच्छा से ही होती हैं। अतः उसके लिए किंचित मात्र भी शोक नहीं। शोक से मुक्त रहना, यह निश्चित ही प्रबुद्ध महात्मा का गुण है। उपनिषद् कहते हैं¹⁹ "आत्मज्ञानी शोक को पार कर जाता है"।

न काङ्क्षति - उसे कोई अपेक्षा या लालसा नहीं होती। अपेक्षाएँ इच्छा पूर्ति के लिए होती हैं। जब कोई इच्छा नहीं तो किसी से कोई अपेक्षा नहीं। क्या यह एक असंवेदनशील और जड़ अवस्था है? बिल्कुल नहीं। भक्त सर्वदा भगवान के प्रति सचेत होता है। वह नित्य ही भगवद्स्मृति में रमता रहता है। इसलिए भगवान उसे **भक्तिमान** कहकर संबोधित करते हैं—उसका हृदय आनंदमय अवस्था में है। **प्रियो नरः**—वह मुझे प्रिय है।

एक यथार्थ भक्त—जो अपने प्रगाढ़ प्रेम को प्रभु की ओर करना जानता है—वास्तव में दुर्लभ है। ऐसा अलौकिक प्रेम केवल प्रभु की कृपा से होता है। नारद मुनि कहते हैं कि भक्त मुख्यतः महात्माओं की कृपा से, कभी-कभी सीधे ईश्वर की कृपा से बनता है। यहाँ महात्माओं की कृपा अति महत्वपूर्ण है।

उस **भक्तिमान** के प्रेम का स्वरूप कैसा होता है? यह अनिर्वचनीय प्रेम है—जिसकी कोई परिभाषा नहीं। ऐसे प्रेम का उदय भक्त के हृदय में होता है। भगवद्भक्ति के दिव्य रस में डूबे हुए इस भक्त के लिए यह संसार कोई महत्व नहीं रखता। जो वास्तव में महत्वपूर्ण हैं—उसका प्रियतम, उसके नाथ, उसके हृदय में स्थित हो चुके हैं।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिमौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥

जो शत्रु तथा मित्र के प्रति समभाव रखता हो, मान अथवा अपमान में, सदीं अथवा गर्मी में, सुख अथवा दुःख में जो समभाव रखता हो; जो किसी प्रकार के लगाव से मुक्त हो, जिसने मौन धारण किया हो, जो किसी भी अवस्था में संतुष्ट हो, जिसका कोई निश्चित घर न हो, जिसका मन शांत और स्थिर हो, ऐसा भक्ति से पूर्ण व्यक्ति मुझे प्रिय है।

पिछले कुछ पद्यों में हमने भक्त के कई सद्गुणों का वर्णन किया है। वह शुद्ध तथा निर्दोष है। किसी को उसके प्रति विद्वेष कैसे हो सकता है? परन्तु इस संसार के तौर तरीके विचित्र हैं। संत महात्माओं से भी विद्वेष करने वाले लोग हुए हैं। महात्माओं की भक्ति की अग्नि को प्रज्वलित करने हेतु ईश्वर ने ऐसे विचित्र लोगों को नियुक्त किया। दुर्योधन जैसे व्यक्ति स्वयं परमेश्वर श्रीकृष्ण से विद्वेष करते थे। कभी कभी शुद्ध भक्त भी ईर्ष्यालु लोगों की दुर्भावना से ग्रस्त हो जाते हैं। परन्तु भक्त अपनी समता नहीं खोते। वे न तो ऐसे लोगों की ओर प्रतिक्रिया दिखाते हैं, न ही उनकी अपमानजनक बातों का प्रत्युत्तर देते हैं। उनके भीतर की शांति अडिग है।

समः शत्रौ च मित्रे च—जब हर कहीं वही परमेश्वर दिखते हैं, तब कोई भेद भावना नहीं होती। तब आप शत्रु और मित्र, दोनों में परमात्मा देखते हैं।

न मित्र न शत्रु

स्वामी विवेकानंद ने ऋषीकेश के एक प्रसिद्ध संत की कहानी सुनाई। एक बार यह संत जब भिक्षा लेने गए तो कुछ दुष्ट लोगों ने उन पर हमला किया और उन्हें बहुत पीटा। यद्यपि वो गंभीर रूप से घायल हुए, उन्होंने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की, और शांत रहे। उनके साथी भिक्षु और शिष्यों ने उन्हें आश्रम वापस लाकर प्रेम पूर्वक उनका प्राथमिक उपचार किया। जब उन्हें होश आने लगा, तो एक शिष्य ने पूछा—“महाराज, क्या आप मुझे पहचान सकते हैं?” संत ने कहा “मेरे प्रभु मेरे साथ ये विचित्र खेल खेल रहे हैं। पहले एक रूप में आकर मुझे पीटा, और अब इन रूपों में आकर मेरी सेवा कर रहे हैं—दोनों वो ही तो हैं।” **समः शत्रौ च मित्रे च**—इस वाक्यांश का उपयुक्त उदाहरण इस घटना से मिलता है।

श्रीकृष्ण इस बात का उत्कृष्ट प्रदर्शन कुरुक्षेत्र युद्ध में करते हैं। श्रीकृष्ण ने अपनी सम्पूर्ण नारायणी सेना दुर्योधन को दे दी, और स्वयं पांडवों के पक्ष में, अर्जुन के सारथी बन गए—एक ओर राजा, और दूसरी ओर उनकी सेना, जो उनके विरुद्ध लड़ रही थी। श्रीकृष्ण ने अर्जुन के माध्यम से अपने ही सेना का संहार निश्चित किया। यहाँ हम देखते हैं कि श्रीकृष्ण के न तो शत्रु हैं, और न ही मित्र। परन्तु साधक के लिए ऐसा नहीं है। ईश्वर के लिए, विनाश सृष्टि का दूसरा पहलू है—यह संहार और पुनः सृजन उनके लिए मनोरंजन है।

तथा मानापमानयोः—भले ही कोई भक्त की प्रशंसा करे और उनकी पूजा करे, अथवा उनका अपमान करे और उन्हें सूली पर चढ़ा दे—उनका हृदय समाधि की अवस्था में रहता है। उनका मन *आत्मानुभूति* की शांत अवस्था से विचलित नहीं होता।

ऋषि की साम्यावस्था

मान और अपमान हर किसी के जीवन में संभव है। जिसे कीर्ति से लगाव है, उसके लिए अपकीर्ति मृत्यु से भी बदतर है। किसी व्यक्ति ने कुटिल मंशा से श्री रमण महर्षि पर तरह तरह के नीच कार्य करने का आरोप लगाते हुए, पर्चे छपवाकर बाँटना शुरू कर दिया। जब महर्षि के पास एक पर्चा पहुंचा, तब वे पर्चे को चुपचाप पढ़कर उसमें स्पेलिंग की गलतियाँ सुधारने लगे। उन्होंने अकस्माक ही टिप्पणी की “इसे तो हमारी कुछ ही त्रुटियों का ज्ञान है। अगर यहाँ आता तो हम और भी कई क्रिस्से सुना देते। उन्हें भी छाप लेता।” यह एक उल्लेखनीय वृत्तांत है। यदि व्यक्ति नाम और मान की चिंता न करे, और केवल परम सत्य पर ही अपनी दृष्टि बनाए रखे, तो अपशब्द सुनने पर उसका भी स्वागत ही होगा। यह अहंकार नामी घातक रोग को बढ़ने से रोकने वाली औषधी बन

सकता है। गहन ध्यान में प्राप्त होने वाली एक महत्वपूर्ण अनुभूति यह है कि अपने व्यक्तित्व के साथ जो लगाव है, हमें उसके पार जाना होगा।

श्रीकृष्ण का भी बहुत अपमान किया गया। उन्होंने सब कुछ प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया। श्रीकृष्ण का जीवन साम्यावस्था का एक उत्कृष्ट प्रदर्शन है। प्रारब्ध के कारण कभी हमारा मान होता है कभी अपमान। इनके मध्य में भी ज्ञानी मनुष्य जानता है कि इनका उस पर कोई प्रभाव नहीं होता। वह जानता है कि केवल अहंकार ही तिरस्कारित, अपमानित, उल्लासित या उदास होता है—न कि आत्मा। आदर होने पर प्रसन्न होना और तिरस्कार होने पर द्वेष होना, यही मनुष्य के अहंकार का स्वभाव है। अत्यधिक ध्यानात्मक संयम से ही मान तथा अपमान, दोनों को निगलकर अपने अस्तित्व में पचा लेने की क्षमता बनती है। तिरस्कार को निगलने की क्षमता आ जाने पर अहंकार की ऊर्जा क्षीण हो जाती है।

शीतोष्ण-सुखदुःखेषु—शरीर स्वाभाविक रूप से सर्दी और गर्मी पर प्रतिक्रिया करता है—यह कोई नहीं बदल सकता। पञ्चभूत रचित होने के कारण भक्त का शरीर भी ऐसा ही प्रभावित होता है—अंतर यह है कि भक्त उनसे उत्तेजित नहीं होता। व्यावहारिक तौर पर गर्मी या सर्दी से राहत पाने के उपाय किये जा सकते हैं, जैसे, प्रतिकूल स्थानों से दूर रहना—भौतिक स्तर पर यह संभव है। परंतु भक्त सर्दी-गर्मी की चिंता से मुक्त है—यद्यपि बाहर का वातावरण परिवर्तित होता रहे, भक्त अपने ध्यान की अग्नि को सदा प्रज्वलित रखता है। हम जहाँ भी हों, नियति अपनी करुणा से हमें वह सब प्रदान करती है जो हमारे लिए अनुकूल है। प्रकृति हमें उतना ही देती है जितना कि हम सहन कर सकें। कठिन परिस्थितियों का सामना करने पर हमें अनावश्यक रूप से उत्तेजित नहीं होना चाहिए।

सुख-दुःख भी ऐसे ही है। जीवन में घटनाएँ एक निश्चित क्रमानुसार प्रकट होती हैं। सुख, दुःख, और व्यथा का क्रम, प्रारब्ध निर्देशित है। जब कोई अनुकूल या सुखद घटना घटती है, तो हम हर्षोल्लासित हो उठते हैं। वहीं दूसरी ओर, कोई दुःखद घटना घटित होने पर, हम टूट कर बिखर जाते हैं। हमें ऐसी तीव्र भावनाओं के परे जाना होगा।

भक्त सुख और दुःख में शांत रहता है। उसका भगवद्स्मरण तथा ध्यान किसी अवस्था में नहीं बदलता। **समः सङ्गविवर्जितः**—वह सदैव अंतर शांति की अवस्था में सम रहता है। उसका मन सदैव *समाधि* अवस्था में, शुद्ध चैतन्य पर अपनी पकड़ बनाए रखता है। साथ ही, **सङ्गविवर्जितः**—वह सदैव अनासक्त है, किसी चीज से नहीं चिपकता, जैसे कमल के पत्ते पर जल। उसकी बाहरी परिस्थितियाँ जैसी भी हों, वह उनसे निर्लिप्त रहता है।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी—संसार उसके लिए चाहे जो लेकर आए, वह प्रभावित नहीं होता। चाहे उसकी निंदा हो या स्तुति, वह शांत रहता है। हर अवस्था में, वह अपने **अस्तित्व (सत्)** में स्थापित है।

आनंदित ब्राह्मण

यह कहानी है केरल के एक साधारण ब्राह्मण की, जो सदैव आनंद की अवस्था में रहते थे। वे एक प्रबुद्ध संत थे। वे कभी गाँव के बच्चों के साथ नाचते थे, कभी ग्रामीणों के साथ निश्चित वार्तालाप करते थे, कभी किसानों के साथ धान के खेतों में मज़दूरी करते थे, और कभी भक्तों की मंडली में मिलकर भगवन्नाम-संकीर्तन करते थे। वे प्रायः पास की नदी के तट पर ध्यानमग्न बैठे रहते। श्रीमद्भागवत का पाठ करते हुए वे आनंद के आँसू बहाते थे। गाँव की स्त्रियाँ सत्संग के लिए उनके पास एकत्र होती थीं। इस कारण, लोग उनके बारे में अफवाहें फैलाने करने लगे। परन्तु उनकी आनंद की स्थिति में कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उनका अत्यंत आदर करने वाले एक संन्यासी ने उन्हें इसके बारे में पूछा।

संत ने उत्तर दिया "लोग मेरे बारे में चाहे जो भी कहें, मुझे विक्षुब्ध होने की क्या आवश्यकता?"

संन्यासी ने जवाब में कहा "परन्तु लोग ऐसी गलत बातें बोलते हैं, यह पाप है!"

"भले ही ऐसा हो, मुझे चिंतित होने की क्या आवश्यकता?" यह उत्तर सुनकर संन्यासी को ऐसा प्रतीत हुआ कि स्वयं गीता माता उनके सम्मुख खड़ी थीं।

मुक्ताबाई का संत ज्ञानेश्वर को उपदेश

महाराष्ट्र की वारकरी परंपरा संत ज्ञानेश्वर से आरंभ हुई है। महाराष्ट्र के कई महात्मा इसी संप्रदाय के हैं। उनके जीवन की एक सुंदर कथा है। भेदभाव-पूर्ण सामाजिक प्रथाओं के कारण, निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर, सोपानदेव, और मुक्ताबाई—इन चारों बच्चों को अत्यधिक कष्ट हुआ। ग्रामीणों का दुर्व्यवहार असहनीय हो जाने पर ज्ञानेश्वर को अत्यंत विषाद हुआ। उन्होंने समाधि में शरीर त्यागने की बात कहकर खुद को एक कमरे में बंद कर लिया। उनके अग्रज तथा गुरु, निवृत्तिनाथ ने उन्हें सांत्वना देने की चेष्टा की, परंतु ज्ञानेश्वर ने द्वार नहीं खोला। उनके अनुज सोपानदेव ने भी उनसे बाहर आने की प्रार्थना की, परंतु इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। तब सब की छोटी बहन, मुक्ताबाई नदी से जल लेकर लौटी। इस पाँच वर्ष की कन्या ने यह बात सुनकर ग्यारह अभंग गाए, जो *ताटीचे अभंग* नाम से प्रसिद्ध हैं।

प्रथम अभंग में वे गतीं हैं –

संत जेणें व्हावें । जग बोलणे साहावें ॥
तरीच अंगी थोरपण। जया नाही अभिमान ॥
थोरपण जेथे वर्से । तेथे भूतदया असें ॥
रागें भरावे कवणाशी। आपण ब्रम्ह सर्वदेशी ॥
ऐशी समदृष्टी करा। ताटी उघडा ज्ञानेश्वरा ॥

संत वही होता है जो दुनिया की बातों को सहन कर सके। सच्ची महानता, दिव्य अनुभव वही प्राप्त कर सकता है जिसमें अभिमान न हो। जहां महानता होती है, वहां सभी प्राणियों के प्रति करुणा और सहानुभूति होती है। परमात्मा सर्वव्यापी रूप से सभी जीवों में विद्यमान है। अतः क्रोध करने या सांसारिक मतों से प्रभावित होने का कोई अर्थ नहीं है। जब हर जगह ब्रह्म को देखा जाए, तो किसी से क्रोध क्यों करें? ऐसी समदृष्टि अपनाएं, और द्वार खोलें ज्ञानेश्वर!

ब्रह्म जैसे तैशा परी। आम्हा वडील भूतें सारी ॥
हात आपुला आपणा लागे । त्याचा करू नये खेद ॥
जीभ दातांनी चाविली । कोणे बत्तीशी पाडिली ॥
थोडें दुखावलें मन । पुढें उदंड साहाणें ॥
चणे खावे लोखंडाचे । मग ब्रह्मपदी नाचे ॥
मन मारुनि मथन करा। ताटी उघडा ज्ञानेश्वरा ॥

सभी जीवों में और हमारे पूर्वजों में एक ही परमात्मा व्याप्त है। अगर हमारा ही हाथ हमें गलती से लग जाए, तो हमें उससे क्रोध या दुःख नहीं होना चाहिए। जब गलती से दाँत जीभ को काट लेते हैं तो क्या कोई क्रोध में अपने सारे दाँत तोड़ देते हैं? यह मन कुछ दुःख झेलने की आदत डाल ले, क्योंकि अभी तो बहुत से कष्टों का सामना करना है। जो लोहे के चनें चबाकर खाने और पचाने में सक्षम है, वह परमानंद में नृत्य कर सकता है। इस प्रकार विचार करके सत्य का मंथन करें और द्वार खोलें ज्ञानेश्वर!

मुक्ता नामक ये बच्ची, जीवनमुक्त महात्मा, घोषणा करती है "संसार पीड़ा देगा, परंतु आप पीड़ित न हों। संसार की चेष्टाओं से प्रभावित न हों। लोहे के चनें चबाकर पचाने के लिए उद्यत हों और आनंद में नाचो! इस अंतिम कथन पर ध्यान दें। कदाचित किसी और व्यक्ति ने ऐसा उपदेश नहीं दिया होगा।

सन्तुष्टो येन केनचित्—वह सदैव संतुष्ट है। येन केन का अर्थ है जो कुछ भी प्रारब्ध उसके सामने आए। जीवन अपरिभाषित एवं हास्यास्पद है। यह भाग्य नामक उलझन का दूसरा नाम है। जीवन की घटनाओं के पीछे कोई युक्ति या लय नहीं ढूँढ़ा जा सकता। स्वस्थ, धनवान, सुखी युवक के लिए सब कुछ सही-सही है। उसके अनुसार जीवन एक सुंदर कविता है। परंतु जब चीजें टूट कर बिखर जाती हैं तो कुछ समझ में नहीं आता। जब अच्छे कर्म के बुरे परिणाम सामने आते हैं तो लगता है 'हाय! यह जीवन एक पागल आदमी द्वारा लिखा गया हास्यास्पद नाटक है।' जीवन में नियति इसी तरह खेलती है। श्रीकृष्ण का जीवन इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। सारे उथल-पुथल और अहंकारों के कोलाहल के मध्य केवल एक ही स्वस्थ-चित्त वाला है—श्रीकृष्ण। सदा शांत, सदा आनंदित, सदा ऊर्जस्वी, कभी दुःखी न होने वाला भव्य योगी। उनका संतोष घटनाओं के साथ नहीं जुड़ा हुआ था, अपितु सदैव

आत्मा मे था। वे सदैव आत्मा के आनंद स्वरूप मे विराजमान थे—*आत्मरति*। जीवन में किसी सुविधा अथवा आराम के प्रति उनकी कोई रुचि नदी थी। उनके अतीत की छाया उनपर कदापि न थी। भविष्य के साथ उनका कोई लेनदेन नहीं था। जो कुछ भाग्य से उनके सामने आया, उन्होंने उसका स्वागत किया। आत्मा का सत्य स्वरूप हमारा एकमात्र स्वस्थ केंद्र हैं। वहीं रहने में सुख है।

ज्ञानी का संतोष उसके अपनी पूर्णता के ज्ञान में है। उसे ज्ञान है कि वो यह शरीर नहीं है। अतः शारीरिक कर्म अथवा कष्ट उसके अपने नहीं हैं। उसे ज्ञान है कि वो यह मन भी नहीं है। अतः विचार और भावनाएँ, उत्तेजना और अवसाद, उससे संबंधित नहीं हैं। वह जानता है कि वो यह बुद्धि नहीं है—अतः वो ज्ञान और अज्ञान से भी परे है। उसे ज्ञान है कि वह इन सब का आश्रय, आत्मा है—जिस में सर्वदा पूर्ण संतोष है।

येन केनचित् शरीर, मन, बुद्धि, तथा अहंकार के क्षेत्र से संबंधित है, अपितु, **संतुष्ट** का तात्पर्य आत्मा से है। **येन केनचित्** प्रकृति के अंतर्गत है। इस बारे में कुछ नहीं किया जा सकता। यहाँ कोई स्थायित्व संभव नहीं। परंतु आत्मा में असंतोष की स्थिति असंभव है। पूर्ण संतोष आत्मा का स्वरूप है। **येन केनचित्** नियति के अंतर्गत काम करता है, परंतु, संतोष आत्मा में है। हमें यह ज्ञान होना चाहिए कि जो कुछ होना है, वह नियति के अनुसार होगा, हम चाहे जितनी भी चेष्टा कर लें उसे टालने के लिए। तथापि, आत्मा मे कभी कुछ नहीं होता; वह सर्वदा पूर्ण है।

श्रीमद्भागवत में प्रबुद्ध महात्मा की स्थिति के बारे मे कहा गया है—आत्म स्वरूप मे रमता हुआ मुनि, पूर्णतः स्वतंत्र रूप से विश्व मे विचरण करता है।

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा।

वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ्मुनिः॥

श्री. भा ११.११.१६

लोग चाहे पुण्यात्मा हों अथवा पापी
वे चाहे सदाचार करें अथवा दुराचार
न भला बोलो न बुरा
अच्छे और बुरे से मुक्त रहो
सभी में अद्वितीय आत्मा को देखो
तुम घूमो, जैसे शांत मुनि

अनिकेतः स्थिरमतिः—बेघर, अपितु, स्थिर मन वाला। ये दोनो विशेषण एक दूसरे के विरुद्ध प्रतीत होते हैं। **अनिकेतः** वो है जिसका घर नहीं है; वह किसी घर में ठहरा हुआ नहीं है। **स्थिरमतिः** का अर्थ है कि वह स्थिर है, संपूर्ण रूप से अपनी जगह है, जैसे अपने घर में विश्राम करता हुआ। एक ऐसा ही एक और श्लोक है जो अक्सर उद्धृत किया जाता है²⁰, "मुनि सर्वदा विचरण करते हुए भी अपने अचल स्थल पर स्थित हैं। जो कुछ भी प्रारब्ध लाता है, वह उसमे आचरण करता है।"

हम सर्वदा अपने स्थायी घर की खोज में हैं—एक ऐसा घर जो सर्वदा पूर्ण शांति और सुरक्षा प्रदान करे। क्या ऐसा कोई स्थान है? हाँ, ऐसा ही घर है आपका हृदय—आत्मा। यही एकमात्र ऐसा स्थान है। भगवद्गीता अठारहवें अध्याय मे **"शाश्वतम् स्थानं"** वाक्यांश का प्रयोग करती है, अर्थात् नित्य निवास स्थान। इस निवास स्थान मे स्थापित होने पर बाहरी घरों का कोई मतलब नहीं रह जाता। प्रायः संत-महात्मा परिव्राजक होते हैं। वे एक जगह तीन दिनों से अधिक ठहरते नहीं। वे जहाँ जाते हैं, वहाँ के लोगों को प्रेम से आशीर्वाद देते हैं, परंतु दीर्घ काल विलंब नहीं करते। **चरैवेति चरैवेति**—चलो, चलो' यही उनका सिद्धांत है।

बाह्य रूप से देखा जाए, तो मुक्त जीव पंख फैलाकर उड़ते हुए गरुड़ की भांति है, और आंतरिक रूप से वह नित्य निवास मे स्थिर है। यही संन्यासी की उत्तम परिभाषा है। श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध मे कहा गया है कि संन्यासी को आश्रम की स्थापना नहीं करनी चाहिए। यहाँ, श्रीकृष्ण कहते हैं कि ध्यानमग्न संन्यासी को सावधान रहना चाहिए कि वो किसी संस्थान से संबंधित न हों, क्योंकि ये ध्यान मे बाधक बन सकते हैं। यहाँ यह उपदेश दिया जाता है कि सर्प की भांति विचरण करो—जहाँ भी रहने की जगह मिले, वहीं रहो। सर्प स्वयं अपना घर नहीं बनाता; वह चूहे या खरगोश के बनाए गए बिल में रहता है। **जीवनमुक्त** भी धन, संस्थान आदि के बोझ से विमुक्त, स्वतंत्र विचरण करता है।

स्थिरमतिः—यद्यपि उसका शरीर विचरण करता है, उसका मन आत्मा में स्थिर रहता है। वह उस अचल केंद्र में ही स्थित है, भले ही उसका शरीर किसी जगह स्थिर न हो। योग वाशिष्ठ में कहा गया है "मुनि बाह्य रूप से नदी में तैरते हुए सूखे पत्ते की भांति है, तथा अंदर पर्वत के समान स्थिर है।"

उसकी स्थिरमति का स्रोत क्या है? वह **भक्तिमान** है। ईश्वर पर उसकी श्रद्धा भक्ति ही उसकी शक्ति का रहस्य है। प्रह्लाद कहते हैं, "बलं मे वैकुण्ठः—स्वयं ईश्वर ही मेरा बल है" (नारा. २४.९)। भक्त जानता है कि जिस ईश्वर की शरण में वो है, वही प्रभु उसका ख्याल रखता है—**योगक्षेमं वहाम्यहं** (गीता ९.२२)। यदि भोजन की आवश्यकता हो, तो वे भोजन प्रदान करेंगे। यदि जल चाहिए, तो वे जल प्रदान करेंगे। वे ही शरीर के अधिपति हैं। इस ज्ञान से साधु स्वतंत्र होकर आत्मा में ही रमता है।

इन सब गुणों को सूचिबद्ध करने के पश्चात् भगवान कहते हैं, "**भक्तिमान मे प्रियो नरः**—यह दिव्य प्रेमी मुझे प्रिय है"। कबीर एक दोहे में कहते हैं "पाछे लागा हरी फिरे, कहत कबीर, कबीर"। जी हाँ, यह ईश्वर का स्वभाव है। वे भक्त के प्रेम के प्यासे हैं। किसी भक्त ने गीत लिखा है—भगवान प्रेम रूपी जाल में पकड़े जाते हैं। स्वामी विवेकानंद का गीत (The Song of the Sannyasin) यहाँ अति महत्वपूर्ण है।

कोई घर न हो तेरा
घर कैसा जो तुझे पकड़ रखे?
आकाश तेरा छत, घास तेरा बिस्तर;
और आहार जो नियति ले आए;
अच्छी तरह पका हुआ या नहीं, निर्विचार
कोई भोजन या पेय आत्मा को न कर पाता दूषित
जो स्वयं ही जाने स्वयं को
बहती नदी की भांति सर्वदा स्वतंत्र तू
निर्भीक सन्यासी! बोल—ॐ तत्सत् ॐ'

यह एक अवधूत की स्थिति है। अवधूत उसे कहते हैं जिसने अज्ञान की धूल को अपने अस्तित्व से फूंक कर उड़ा दिया। यद्यपि इस संदर्भ में श्रीकृष्ण भक्त का वर्णन कर रहे हैं, अवधूत, अथवा जीवनमुक्त या ब्रह्मज्ञानी ही उच्चतम कोटि के भक्त हैं।

१२.२०

**ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते
श्रद्धधाना मत्परमा भक्तास्तेतीव मे प्रियाः॥**

तथा, वे, जो श्रद्धा से परिपूर्ण मुझे ही अपना सर्वोच्च लक्ष्य जानकर, इस बताए हुए मार्ग पर चलते हैं, वे मुझे अति प्रिय हैं।

यहाँ, भगवान ने भक्ताः कहकर बहुवचन का प्रयोग किया है। ऐसे भक्त मुझे अति प्रिय हैं। कौन हैं ऐसे भक्त? "**श्रद्धधानाः**—जिनको इस विद्या में श्रद्धा है, वे विमुक्त होंगे। उनका केवल एक उद्देश्य है। मैं ही उनका सहारा हूँ, मैं उनका सर्वोच्च लक्ष्य हूँ—**मत्परमाः**। वे मेरे भक्त हैं, तथा मेरे अत्यंत प्रिय।

जो इस धर्म रूपी अमृत—**धर्म्यामृतम्** का पान करते हैं, अर्थात् जो गीता के उपदेशों का अध्ययन करते हैं तथा भक्तों के उपर्युक्त गुणों को आत्मसात करते हैं; जो इस विद्या का मनन करते हैं तथा मुझ पर श्रद्धा सहित ध्यान करते हैं, वे अवश्य विमुक्त होंगे।"

गीता उपदेश का श्रवण, अध्ययन तथा मनन को यहाँ उपासना कहा गया है। अपने सद्गुरु, गीता में भगवान और उपनिषदों में ऋषियों द्वारा निर्धारित किए गए उपदेशों का पालन करना चाहिए—**यथा उक्तम् पर्युपासते**। यदि हम दिए गए निर्देशों का ठीक उसी तरह पालन करते हैं जैसे निर्धारित किया गया है, तो हमारे आध्यात्मिक स्वास्थ्य में प्रत्यक्ष सुधार होगा। अर्थात्, हमें शांति, प्रेम, तथा वैराग्य की प्राप्ति होगी। ऐसा भक्त ईश्वर को सदा प्रिय है।

नारद मुनि और ध्यानमग्न श्रीकृष्ण

एक बार श्रीकृष्ण को ध्यान में बैठे देख कर नारद मुनि ने उनसे पूछा "हे प्रभु, सारे भक्तजन तो आपके दिव्य रूप तथा आपके चरणों का ध्यान करते हैं, परंतु आप किसका ध्यान कर रहे हैं?"। श्रीकृष्ण ने कहा "मेरे प्रिय देवर्षि, आपको एक रहस्य बताता हूँ। जिस इष्टदेव के रूप पर मैं ध्यान करता हूँ, वो मेरे भक्त का है। साधु मेरा हृदय हैं, और मैं उनका हृदय हूँ²¹। उन्हीं का मैं ध्यान करता हूँ। यही रहस्य है।"

यहाँ भगवान कह रहे हैं "हे अर्जुन, तुम मेरे प्रिय हो। तुम्हें मुक्ति प्राप्त होगी।" यह भगवान की प्रतिज्ञा है। श्रीमद्भगवद्गीता ९.३१. मे भगवान कहते हैं "न मे भक्तः प्रणश्यति—मेरे भक्त का नाश कभी नहीं होता।"

यहाँ **श्रद्धधानाः** शब्द का प्रयोग किया गया है। आध्यात्मिक जीवन में श्रद्धा सबसे महत्वपूर्ण कारक है। अतः यहाँ श्रद्धा भक्ति मार्ग से जुड़ा हुआ है। श्रद्धा, भक्ति, तथा ध्यानयोग तीन ऐसे कारक हैं जो व्यक्ति को आध्यात्मिक जीवन में स्थिर बनाते हैं।

धर्म्यामृतम्—अर्थात् अमर-धर्म। धर्म स्वयं अमृत है। जो व्यक्ति धर्म का पालन करता है, वह अपने हृदय में आनंद का अनुभव करता है। धर्म का वास्तविक अर्थ है आत्मज्ञान। इस ज्ञान पर आधारित जीवन ही धर्म है। "मैं आत्मा हूँ" इस तत्व को जानकर सभी में इस दिव्य आत्मा को देखें। इस दृष्टि से लोगों के साथ व्यवहार करना ही धर्म है। धर्म कोई बना-बनाया नियम, अथवा नैतिक शिक्षा नहीं है। धर्म सत्य पर आधारित है। क्या करें और क्या न करें—ऐसे नियमों से धर्म नहीं बनता। धर्म एक ऐसा वाहन है जिस पर प्रभु सवार हैं। धर्म सत्य की बाहरी त्वचा है। केवल सत्य में प्रतिष्ठित व्यक्ति से ही धर्म की सुगंध उमड़ती है। **धर्म्यामृतम्** मे अमृत केंद्र है, और धर्म परिधि। जब हृदय में अमर आत्मा का बोध होता है; तब सारा भय दूर हो जाता है, एक ही अभिन्न आत्मा सभी में दिखाई पड़ती है, और स्वार्थ मिट जाता है—यही धर्म का सार है। श्रीमद्भगवत में कहते हैं, "मन के छल-कपटों को मिटा कर शुद्ध किया हुआ वह परम धर्म, जो अहंकार की त्रुटियों और निर्बलताओं से परे है, वही भक्ति है"²²। उसी धर्म में संपूर्ण जगत तथा सारे जीव जंतु स्थापित हैं²³। इस धर्म में स्थापित व्यक्ति से समस्त प्राणी प्रेम करते हैं। तथा, यह भगवान का ही प्रेम है जो सभी प्राणियों के माध्यम से व्यक्त होता है।

निष्कर्ष

भक्तियोग—श्रीमद्भगवद्गीता के सबसे मधुर अध्यायों में से एक, यहाँ समाप्त होता है। भगवान कहते हैं कि जो भक्त इस अध्याय का बार-बार ध्यान करते हैं और इसे आत्मसात करते हैं, वे मेरे लिए अति प्रिय हैं। जैसे भगवान ने श्रीमद्भगवत में कहा—"मैं उसकी रक्षा करूंगा। उसकी जो भी कठिनाई होगी, मैं उसका समाधान करूंगा। मैं सदैव उसके साथ रहूंगा, और वह जब चाहे मेरा दर्शन कर सकता है।" भगवान ने राजा महाबली को यह वचन दिया था। ऐसा वचन केवल एक निर्दोष बाल-सुलभ भक्त को दिया जाता है। संपूर्ण आध्यात्मिक तपस का ध्येय मुख्यतः एक बच्चे की भांति सरलता और पवित्रता प्राप्त करना है। भगवान हमारे पिता हैं, हमारी माता हैं, हमारे स्वामी तथा गुरु हैं। वे ही इस जीवन की एकमात्र निधि हैं।

* * *

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः॥

ॐ तत् सत्

इस ग्रंथ में, जिसे श्रीमद्भगवद्गीता के नाम से जाना जाता है, जिसमें उपनिषदों का सार है, जो ब्रह्म के ज्ञान और योग के विज्ञान को श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच एक संवाद के रूप में उजागर करता है, इस प्रकार "भक्ति योग" नामक बारहवां अध्याय समाप्त होता है।

21 साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। श्री.भा. ९.४.६८

22 धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमः। श्री.भा. १.१.२

23 धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा। म.ना.उ. ७९.१